बौद्धसाधना
का
विकास

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी
१९७१ ई०

बौद्धसाधना का विकास

प्रकाशक–
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रथम संस्करण ५०० प्रति (१९७१ ई०)
मूल्य १.७५ रु०

मुद्रक–
घनश्याम उपाध्याय
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय मुद्रणालय,
वाराणसी

निवेदन

शताब्दियों बाद भारतीय विद्वानों का बौद्ध अध्ययन के प्रति पुनः आकर्षण बढ़ रहा है, किन्तु कठिनाई यह है कि एक ओर इसके अध्ययनाध्यापन की परम्परा उच्छिन्न हो गई है, दूसरी ओर मूल संस्कृत में इसका साहित्य भी बहुत कम उपलब्ध है। इन कठिनाइयों के बीच देश के कुछ विश्वविद्यालयों में पिछले कुछ दशकों से केवल पालि-साहित्य का अध्यापन प्रारम्भ हुआ है और कहीं-कहीं उसका स्वतन्त्र विभाग भी बना है। संस्कृत विश्वविद्यालय में प्रारम्भ से ही पालि और बौद्धदर्शन का अलग-अलग विभाग प्रारम्भ किया गया। परिमित साधनों में ही इन विभागों ने अध्यापन, परिसंवादगोष्ठियाँ, अनुसन्धान एवं प्रकाशन की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। इसी क्रम में 'बौद्ध योग तथा अन्य भारतीय साधनाओं का समीक्षात्मक अध्ययन' विषय पर २१ से २४ फरवरी (१९७१) तक गोष्ठी का आयोजन किया गया है। इस अवसर पर पालि विभाग एवं बौद्ध दर्शन विभाग के विद्वानों द्वारा 'बौद्धसाधना का विकास' नाम से यह पुस्तिका प्रकाशित की जा रही है।

बौद्धों का योग-साहित्य काल की दृष्टि से प्राचीन है और परिमाण में विपुल है। प्राचीनकाल में ही भारत में दर्जनों शाखाओं में बौद्धयोग विभक्त हो चुका था, दक्षिण-पूर्व एशिया में फैल जाने के बाद उन-उन देशों में उसकी और भी अनेकानेक शाखायें विकसित हुई। इस प्रकार बौद्धों का योग-वाङ्मय अति विस्तृत हो चुका है। भारतीय अन्य साधना सम्प्रदायों और बौद्ध शाखाओं में महत्वपूर्ण आदान-प्रदान हुए हैं। इसलिये भारतीय अन्य योगों के सम्यक् अध्ययन की दृष्टि से बौद्धयोग का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

योग का अध्ययन सांस्कृतिक दृष्टि से भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारतीय संस्कृति की विवधताओं में योग ने आध्यात्मिक एकता स्थापित रखी है। प्रागैतिहासिक काल से अबतक ऋषियों, मुनियों, श्रमणों, ब्राह्मणों, सिद्धों, नाथों और सन्तों में वैचारिक दृष्टि से परस्पर चाहे कितना भी मतभेद हो किन्तु प्रायः सभी ने योग की आध्यात्मिक धारा को स्वीकार किया है। बौद्ध-

योगियों ने प्रायः सम्पूर्ण एशिया के देशों में भी आध्यात्मिक समानता स्थापित की है।

नये युग में योग का वैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्व बढ़ रहा है। अगला मानव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा ही जटिल होता जायगा, और उसकी वैयक्तिक एवं सामाजिक समस्याओं के समाधान के प्रसंग में योग शास्त्रों का महत्व बढ़ता जा गा। चित्त-नदी की गम्भीरता का अवगाहन योगशास्त्र से ही सम्भव है। इस दृष्टि से अन्य भारतीय साधनाओं और विशेषतः बौद्ध-योग की देन महत्वपूर्ण है। इसके अध्ययन में हमें परम्परा के साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टि भी रखनी होगी।

विश्वविद्यालयों में भारतीय साधनाओं का अध्ययन प्रायः नहीं के समान हो रहा है। बौद्धयोग तो अपरिचित हो ही गया है। इस स्थिति में बौद्ध-योग के सम्बन्ध में प्रामाणिक बौद्ध विद्वानों द्वारा लिखे निबन्धों की यह पुस्तिका महत्वपूर्ण है। विनम्रतापूर्वक विद्वानों एवं जिज्ञासुओं के समक्ष इस पुस्तिका को प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है, विषय का परिचय प्राप्त करने में इससे सहायता मिलेगी।

२१ फरवरी, १६७१
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

राय गोविन्द चन्द्र
(उपकुलपति)

विषय-क्रम

भगवान् बुद्ध और उनकी साधना

भगवान् बुद्ध के समस्त उपदेशों का निर्वाण ही एकमात्र रस है। बुद्धत्व प्राप्ति के अनन्तर वे लगातार निर्वाणप्रापक मार्ग का ही मुख्यतः उपदेश देते रहे। मार्ग की शरण में जाने के लिये ही वे बराबर अपने अनुयायियों को प्रेरित करते रहे। विनेय जनों को मार्ग पर अवतरित करने के लिये ही उन्होंने विभिन्न उपायों का अवलम्बन किया। उनका दावा था कि जिस मार्ग का वे उपदेश कर रहे हैं, वही दुःखनिरोध का एकमात्र मार्ग है। क्योंकि उसी मार्ग पर चलकर उन्होंने दुःख के अशेष कारणों का समूल नाश किया था। दुःख किसी को भी प्रिय नहीं होता, अतः उन्होंने करुणापूर्वक आह्वान किया कि दुःखप्रहाणार्थी समस्त जन अविलम्ब मेरे धर्मविनय में प्रव्रजित हों।

प्रायः यह होता है कि मनुष्य अज्ञानवश दुःख को दुःख नहीं समझ पाता। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वह भ्रान्तिवश दुःख को भी सुख समझने लगता है। ऐसे लोगों को यथार्थ का बोध कराने के लिये उन्होंने दुःखसत्य का प्रतिपादन किया। शरीर और मन में अनुभूत होनेवाली दुःखा वेदनाओं को साधारणतया सभी लोग दुःख समझते हैं। कुछ समझदार लोग उस दुःख से भी परिचित होते हैं जो वर्तमान में सुखवत् प्रतीत होने पर भी परिणाम में दुःखदायी होता है। यद्यपि यह दुःख पहले दुःख की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म है; तथापि इन दोनों दुःखों का बोध कराने के लिये ही प्रधानतः भगवान् ने दुःखसत्य का प्रतिपाद नहीं किया। उनका कहना है कि वे समस्त पदार्थ दुःख हैं, जिनका उत्पाद पूर्वकृत तृष्णादि क्लेशों से युक्त कर्मों द्वारा होता है। अथवा हेतुप्रत्ययों से उत्पन्न समस्त अनित्य और क्षणिक सास्रव संस्कृत धर्म दुःख हैं। साधारण जन इस दुःख का बोध नहीं कर पाते, आर्य जन ही इसका सम्यग् ज्ञान करते हैं, इसलिये यह आर्यसत्य भी कहलाता है। इस दृष्टि से जन्म, मरण, देव, ब्रह्मा, मनुष्य, स्वर्ग, नरक; संक्षेप में पांचों स्कन्ध दुःख हैं। इस अतिसूक्ष्म दुःखता का बोध कर लेना ही वास्तव में दुःखसत्य का बोध है। इस दुःख का कारण भी अनेकविध तृष्णायें हैं, जिनमें सबसे प्रमुख अपने अस्तित्व की तृष्णा ही है। इसीसे अन्य सभी तृष्णायें उत्पन्न होती हैं। जब तक इस तृष्णा का समूल नाश नहीं होगा, तब तक दुःख का निरोध भी असम्भव है। कारणनाश से ही कार्यनाश किया जा सकता है।

इस तृष्णा के नाश का उपाय ही मार्गसत्य है, जिसकी भावना से निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। उसी का अवलम्बन करके भगवान् बुद्ध ने स्वयं निर्वाण प्राप्त किया और यावज्जी न उसी का लोगों को उपदेश दिया। किन्तु उस उपाय का ज्ञान उन्हें आसानी से नहीं हुआ। किसी गुरु ने वह मार्ग उन्हें नहीं दिखलाया, अपितु बड़ी तपस्या और परिश्रम के बाद उन्होंने स्वयं उसकी खोज की।

समस्त भोगविलासों के बीच पितृगृह में रहते हुये ही जरा, व्याधि, मृत्यु आदि दुःखों से पीड़ित जनों को देखकर सर्वप्रथम उन्हें उद्वेग (संवेग) हुआ। यह संसार एक क्षण भी रहने योग्य नहीं है, मैं इसमें नश्वर भोगों को भोगते हुये रह नहीं सकता—इस प्रकार उन्हें संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ। उन्हें इस बात पर सर्वाधिक आश्चर्य था कि आकण्ठ दुःख में मग्न रहते हुये भी, चारों ओर विविध दुःखों का साम्राज्य देखकर भी कैसे लोग हँसते, खेलते और खुशियाँ मनाते हैं। उन्होंने देखा कि आर्त्त लोगों ने आज तक विलाप करते हुये जितना आँसू बहाया है, चारों समुद्रों का खारा पानी उसकी तुलना में नगण्य है। वे सिहर उठे। उन्होने संकल्प किया कि जागतिक दुःखों के नाश का उपाय बिना खोजे में चैन नहीं लूंगा। समस्त दुःखी प्राणियों का दुःख से उद्धार का भार उन्होंने अपने कन्धे पर लिया। इस तरह उनमें महाकरुणा का उत्पाद हुआ। और एक रात सारा राज-पाट, धन-दौलत, स्त्री-पुत्र आदि से भरे-पूरे परिवार को छोड़कर सत्य की खोज में वे घर से बाहर निकल पड़े।

घर से निकलने के बाद सर्वप्रथम वे आलार कालाम के पास पहुंचे। उन दिनों ध्यानभावना के क्षेत्र में उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी। आलार कालाम ने उन्हें 'आकिंचन्यायतन समापत्ति' की देशना की। अत्यल्प काल में ही वे उसमें निष्णात हो गये। किन्तु उन्हें ऐसा लगा कि यह धर्म न तो संबोधि के लिये है और न निर्वाण के लिये। जिस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के उद्देश्य से वे घर से निकले थे, उसकी पूर्ति इतने से नहीं हो रही थी। इससे अधिक की जानकारी आलार कालाम को न थी। फलतः वे वहाँ से भी अन्य आचार्य की खोज में चल दिये।

तदनन्तर वे रुद्रक रामपुत्र के यहाँ पहुँचे। इनका भी उन दिनों बड़ा नाम था। वहाँ पहुँच कर उन्होंने उनके धर्म में दीक्षा ली। रुद्रक ने उन्हें 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन समापत्ति' की देशना की। उनकी बताई विधि से एकान्त में जाकर कुछ ही दिनों में उन्होंने वह समापत्ति हस्तगत कर ली।

किन्तु इतने से भी उन्हें सन्तोष न हुआ। उनके उद्देश्य की सिद्धि इससे नहीं हो पा रही थी। फलतः वे वहाँ से भी चल पड़े। वहीं पर पाँच भद्रवर्गीय भिक्षु भी ब्रह्मचर्य का सेवन कर रहे थे। उन्होंने देखा कि रुद्रक रामपुत्र द्वारा उपदिष्ट समापत्ति को इस महापुरुष ने बड़ी जल्दी अधिगत कर ली, फिर भी उससे इन्हें सन्तोष न हुआ, अतः निश्चित ही इन्हें एक दिन सम्यग् बोधि प्राप्त होगी। यदि हम लोग इनके साथ रहेंगे तो हमें भी लाभ होगा। इस आशा से वे भी बोधिसत्त्व के साथ चल दिये।

अनुक्रम से चारिका करते हुये वे उरुविल्व नामक स्थान में पहुंचे। जहां का रमणीय भूप्रदेश, सुन्दर वनखण्ड और स्वच्छ नैरञ्जना नदी उन्हें ध्यान-भावना आदि के अनुकूल प्रतीत हुये। उनके सामने एक लक्ष्य था, किन्तु उसकी सिद्धि का स्पष्ट मार्ग उन्हें ज्ञात न था। विभिन्न प्रकार की कठिन तपस्या करनेवाले ऋषि, मुनियों की कथायें उन्होंने सुन रखी थी। सोचा शायद वे कठिन तपस्यायें ही मुक्ति का मार्ग हों। फलतः वहीं रुककर उन्होंने तपस्या करने का संकल्प किया।

तदनन्तर वे वहीं असंस्कृत भूमि में पालथी लगा कर बैठ गये और दांतों पर दाँत रखकर, जीभ को तालु में सटाकर चित्त से चित्त एवं काय को निष्पीडित करने लगे। ठीक उसी प्रकार जिस तरह कोई बलवान् पुरुष किसी दुर्बल पुरुष के सिर अथवा कन्धे को पकड़ कर दबाता है। इस प्रक्रिया में उन्हें असह्य कष्ट हुआ, किन्तु उत्साहपूर्वक वे उसे करते रहे। हेमन्त ऋतु की शीत रात्रि में भी उनके शरीर से पसीना बहने लगा। यद्यपि इस साधना से अप्रमाद और स्मृति सुप्रतिष्ठित हुये, किन्तु कामतृष्णा के प्रहाण की दृष्टि से कुछ भी लाभ न हुआ।

इसके बाद उन्होंने श्वास-प्रश्वास रोक कर आस्फानक ध्यान करने का विचार किया। मुख और नाक के छिद्र उन्होंने बलपूर्वक बन्द कर दिये। फलस्वरूप उनके शरीर की भीतरी वायु वेगपूर्वक श्रोत्रद्वार से निकलने लगी, जिससे अत्यधिक शब्द होने लगा, ठीक उसी प्रकार जिस तरह लोहार की धौंकनी से शब्द निकलता है। तदनन्तर उन्होंने कान के छिद्रों को भी बन्द कर दिया। फलस्वरूप उनकी भीतरी वायु ऊपर मूर्धा में आघात करने लगी, जिससे उन्हें भयङ्कर शिरोवेदना होने लगी। ठीक उसी प्रकार जैसे कोई हथौड़े से शिर में चोट पहुँचा रहा हो। किन्तु बोधिसत्त्व उत्साह और धैर्य के साथ सब कुछ सहन करते रहे। सभी छिद्रों से वायु को रोक देने से कुछ समय बाद उनके पेट में अत्यन्त तीव्र वेदना होने लगी, जैसे कोई गोघातक

कसाई तेज धारवाले छुरे से आतें काट रहा हो। बोधिसत्त्व ने इसे भी सहन किया। तदनन्तर इस प्रक्रिया से उनके पूरे शरीर में भयंकर दाह होने लगा, जैसे दो बलवान् पुरुष किसी एक दुर्बल पुरुष की बाहें पकड़कर तप्त कड़ाही में भून रहे हों। उस समय वहां उपस्थित कुछ देवतागण यह कहने लगे कि गौतम मर गया; कुछ कहने लगे कि अभी मरा नहीं है—इत्यादि। बोधिसत्त्व इस चर्या को भी उत्साहपूर्वक करते रहे। यद्यपि इससे अप्रमाद और स्मृति सुप्रतिष्ठित हुये, किन्तु कामतृष्णा शान्त न हुई, केवल शरीर को ही कष्ट हुआ।

तदनन्तर उन्हें विचार हुआ कि कुछ लोग आहार से भी शुद्धि मानते हैं, अतः क्यों न मैं आहार छोड़कर तपस्या करूँ। फलत उन्होंने क्रमशः आहार कम करना शुरू किया। सबसे पहले एक वक्त का आहार छोड़ दिया। एक वक्त के आहार में भी धीरे-धीरे अन्न की मात्रा कम करने लगे। यहाँ तक कि एक तण्डुल, एक तिल पर जीवन-यापन करने लगे। इससे उनका शरीर सूख कर काँटा हो गया और शरीर का वर्ण काला पड़ गया। दुर्बलता चरम सीमा पर पहुँच गई। चमड़ी हड्डी से चिपक गई। सारी गाठें दिखलाई पड़ने लगी। आँखें धँस गईं। पेट और पीठ परस्पर सट गये। जब वे पेट पकड़ना चाहें, तो पीठ पकड़ में आ जाय। किसी कार्य से उठना चाहें, तो वहीं भहरा कर गिर पड़ें। जब अपने शरीर पर हाथ फेरें तो रोम झड़ने लगें। देखनेवालों में कोई कहता था कि गौतम काला है, कोई कहता श्याम है। इस उग्र तपस्या से भी उन्हें अभीप्सित ज्ञान का लाभ न हुआ।

छः वर्षों तक सम्यक् मार्ग के अन्वेषण में वे लगातार कठोर तपश्चरण करते रहे। उन्हें यह विचार हुआ कि अतीत काल में किसी श्रमण या ब्राह्मण ने तपश्चर्या करते समय जितनी दुःखा वेदनायें अनुभूत की होंगी, वे इससे अधिक न होगी। भविष्य में भी इससे अधिक वेदनायें कोइ साधक न भोगेगा। इस पूरे साधनाकाल में वे बराबर आत्मविश्लेषण करते रहे कि मेरे राग, द्वेष, मोह आदि दुःखों का मूल समाप्त हुआ कि नहीं। इसीलिये वे घर से निकलकर प्रव्रजित हुये थे; किन्तु अभी तक उन्हें सन्तोष न हुआ। उन्होंने निश्चय किया कि यह कठोर तपश्चरण संबोधि का मार्ग नहीं है।

एक दिन उन्हें वह समय याद आया, जब अपने पिता शुद्धोधन के खेत में जामुन की शीतल छाया में बैठे हुये उन्हें प्रथम ध्यान प्राप्त हुआ था।

उन्होंने सोचा शायद वही बोधि का मार्ग हो। किन्तु इस प्रकार की दुबली पतली काया से वह ध्यान प्राप्त करना सुकर न था। फलतः वे स्थूल आहार ग्रहण करने लगे। उन दिनों जो पांच भद्रवर्गीय भिक्षु उनकी सेवा-सुश्रूषा में लगे थे, उन्होंने सोचा कि इतनी कठिन तपस्या से जब इन्हें ज्ञान प्राप्त न हुआ तो अब जब ये स्थूल आहार ग्रहण करने लगे, तब क्या प्राप्त होगा। फलतः निराश होकर वे उनका साथ छोड़कर वहाँ से चल दिये।

तदनन्तर बोधिसत्त्व आसपास के गाँवों में भिक्षाचरण करने लगे। जब उनके शरीर में कुछ बल संचित हुआ तो वे एक वैशाख पूर्णिमा के दिन बोधि-वृक्ष के नीचे यह प्रतिज्ञा करके आसन लगा कर बैठ गये कि चाहे मेरा शरीर सूख जाय, त्वक्, अस्थि, मांस आदि विलीन हो जायँ, बिना बोधि प्राप्त किये मैं इस आसन से उठूँगा नहीं। वहीं पर उन्होंने सर्वप्रथम मारविजय की और क्रमशः, प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान प्राप्त किये।

चित्त के शुद्ध, समाहित, कर्मण्य एवं अप्रकम्प्य हो जाने पर रात्रि के प्रथम प्रहर में उन्होंने दिव्यचक्षु अभिज्ञा की प्राप्ति के लिये चित्त का अभिनिर्हार किया। इसके बल से वे उत्पद्यमान, च्यवमान, सुवर्ण, दुर्वर्ण, सुगत, दुर्गत, हीन, प्रणीत आदि नाना सत्त्वों को देखने लगे। इस तरह उन्हें रात्रि के प्रथम प्रहर में दिव्यचक्षु अभिज्ञा की प्राप्ति हुई। रात्रि के मध्य याम में उन्हें पूर्वनिवासानुस्मृति अभिज्ञा प्राप्त हुई, जिसके बल से उन्होंने अपने और दूसरे सत्त्वों के अनेक जन्मों की स्थिति का बोध कर लिया। तदनन्तर रात्रि के पश्चिम याम में उन्होंने आस्रवक्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान के लिये चित्त का अभिनिर्हार किया। उन्हें ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि यह लोक उत्पन्न होता है, जीर्ण होता है, मरता है, किन्तु जरा, व्याधि, मरण धर्म-वाले, अशेष दुःखस्कन्ध के निरोध का उपाय नहीं जानता। तब उन्हें यह जिज्ञासा हुई कि किसके होने पर जरा-मरण होते हैं अर्थात् जरामरण का क्या हेतु है? तब उन्हें यह ज्ञान हुआ कि जन्म होने पर जरा-मरण होते हैं। क्या होने पर जाति होती है? भव होने पर जाति होती है। इसी तरह उपादान होने पर भव होता है। तृष्णा होने पर उपादान होता है। वेदना होने पर तृष्णा होती है। स्पर्श होने पर वेदना होती है। षडायतन होने पर स्पर्श होता है। नाम-रूप होने पर षडायतन होते हैं। विज्ञान होने पर नामरूप होते हैं। संस्कार होने पर विज्ञान होता है तथा अविद्या होने पर संस्कार होते हैं। इस प्रकार अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम-रूप, नाम-रूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना

से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति और जाति से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य और उपायास प्रादुर्भूत होते हैं। इस तरह इस सम्पूर्ण दुःखस्कन्ध का समुदय होता है।

इस प्रकार पहले अज्ञात, अश्रुत धर्मों में योनिशोमनस्कार के कारण उन्हें चक्षु उत्पन्न हुआ, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक उत्पन्न हुआ।

तब बोधिसत्त्व को यह हुआ कि किसके न होने पर जरा-मरण नहीं होते अथवा किसके निरोध से जाति-मरण का निरोध होता है? तब उन्हें यह ज्ञान हुआ कि जाति के न होने पर जरा-मरण नहीं होते या जाति के निरोध से जाति-मरण का निरोध होता है। इसी तरह भव के निरोध से जाति का निरोध होता है, उपादान के निरोध से भव का निरोध, तृष्णा के निरोध से भव का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध, षडायतन के निरोध से स्पर्श का निरोध, नाम-रूप के निरोध से षडायतन का निरोध, विज्ञान के निरोध से नाम-रूप का निरोध, संस्कार के निरोध से विज्ञान का निरोध तथा अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध होता है। इस तरह इस सम्पूर्ण दुःखस्कन्ध का निरोध होता हे। इस प्रकार पहले से अज्ञात अश्रुत आदि धर्मों में योनिशोमनस्कार के कारण उनमें चक्षु उत्पन्न हुआ, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक उत्पन्न हुआ।

उस समय बोधिसत्त्व ने यह दुःख आर्यसत्य है, इस प्रकार यथार्थतः जाना। यह आस्रवसमुदय है, यह आस्रवनिरोध है, यह आस्रवनिरोधगामिनी प्रतिपद् है, ऐसा यथार्थतः जाना। यह कामास्रव है, यह भवास्रव है, यह अविद्यास्रव है और यह दृष्ट्यास्रव है। यहाँ आस्रव निरवशेष निरुद्ध होते हैं। यह अविद्या है, यह अविद्यासमुदय है, यह अविद्यानिरोध है और यह अविद्यानिरोधगामिनी प्रतिपद् है। यहाँ अविद्या अशेष निरुद्ध हो जाती है। यह संस्कार है, यह संस्कार समुदय है, यह संस्कारनिरोध है, यह संस्कार-निरोधगामिनी प्रतिपद् है, यह विज्ञान है···इत्यादि। ये शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास हैं, इस तरह इस सम्पूर्ण दुःखस्कन्ध का उत्पाद होता है, निरोध होता है—इस प्रकार बोधिसत्त्व ने यथार्थतः जाना। यह दुःखसमुदय है, यह दुःखनिरोध है, यह दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् है, इसे यथार्थतः जाना।

इस प्रकार बोधिसत्त्व ने रात्रि के पश्चिम याम में अरुणोदय के समय जो जानना चाहिये, जो प्राप्त करना चाहिये, जो देखना चाहिये और जिसका

साक्षात् करना चाहिये, समस्त प्रज्ञा द्वारा जान लिया, प्राप्त कर लिया, देख लिया और साक्षात् कर लिया। इस तरह उन्होंने अनुत्तर सम्यक् संबोधि प्राप्त की। उन्हें आस्रवक्षयज्ञान, अनुत्पादज्ञान और सर्वज्ञ ज्ञान प्राप्त हुआ। किन्तु बोधि का यह मार्ग उन्होंने बिना किसी की सहायता के अपने आप अपने प्रयास से खोजा। इसीलिये एक आजीवक के पूछने पर उन्होंने कहा—

सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।
सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं॥

न मे आचारियो अत्थि सदिसो मे न विज्जति।
सदेवकस्मिं लोकस्मिं नत्थि मे पटिपुग्गलो॥

अहं हि अरहा लोके अहं सत्था अनुत्तरो।
एकोम्हि सम्मासम्बुद्धो सीतिभूतोस्मि निब्बुतो॥

श्री रामशङ्कर त्रिपाठी

स्थविरवादी बौद्धसाधना

स्थविरवादी बौद्धसाधना का लक्ष्य अपना मोक्ष या निर्वाण है। वह निर्वाण भी एकमात्र लोकोत्तर प्रज्ञा द्वारा समधिगम्य है। लोकोत्तर प्रज्ञा का उत्पाद समाधि से ही सम्भव है (समाहितो यथाभूतं पजानाति)। समाधि के लिये व्यक्ति का शीलवान् होना जरूरी है। दुःशील का चित्त एकाग्र नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक अकुशल कर्म के पीछे राग, द्वेष एवं मोह में से प्रमुखतः किसी एक का हाथ अवश्य होता है और इसके होने पर विक्षेप और औद्धत्य का होना अवश्यम्भावी है, जो शमथ या समाधि के बाधक हैं। अर्थात् विक्षेप एवं औद्धत्य के कारण चित्त एक आलम्बन में अधिक देर तक स्थिर नहीं रह पाता। फलतः शील समाधि और प्रज्ञा का आधार हो जाता है।

निर्वाणाभिलाषी शीलवान् व्यक्ति सर्वप्रथम किसी एक आलम्बन में एकाग्रता (शमथ) सिद्ध करता है। तदनन्तर वस्तु के यथार्थ तत्त्व को जानने के लिये उस शमथ का विपश्यना के साथ योग करता है। इस शमथ-विपश्यनायुगलसमाधि की भावना से अन्त में समस्त क्लेशों का अशेष क्षय करनेवाली लोकोत्तर प्रज्ञा का उदय होता है, जिसके द्वारा निर्वाण का अधिगम होता है।

इस तरह शमथ और विपश्यना भावना मिलकर यह साधनाविधि पूर्ण होती है, क्योंकि इसका लक्ष्य निर्वाण होता है, न कि कुछ ध्यान या लौकिक अभिज्ञाओं की प्राप्ति मात्र। अतः अब यहाँ शमथभावना और विपश्यना भावना का स्थाविरवादी दृष्टिकोण से क्रमशः संक्षिप्त निरूपण किया जा रहा है।

(१) शमथभावना—

संसार से विरक्त, निर्वाण के अभिलाषी शीलवान् साधक को अपनी चित्तसन्तति में समाधि के उत्पाद के लिय सर्वप्रथम कल्याणमित्र गुरु के समाप जाना चाहिये। गुरु साधक के अध्याशय अर्थात् चरित्रगत विशेषता को जानकर समाधि के चालीस प्रकार के आलम्बनों में से कोई एक उसे देता है, जिसे गुरूपदिष्ट विधि से आलम्बन बनाकर साधक समाधि का लाभ करता है।

ज्ञातव्य है कि संसार में प्रतिव्यक्ति का अपना विशिष्ट चरित्र होता है। वह चरित्र भी परिस्थितिवश बदलता रहता है. फिर भी व्यक्ति के अन्तःस्तल

में कुछ मूलभूत तत्त्व होते हैं, जिनसे परिस्थितिवश कभी कम और कभी अधिक वह जीवनभर प्रेरित होता रहता है। उन्हीं के आधार पर बौद्धों ने व्यक्तियों के छह भेद किये हैं, यथा—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित एवं वितर्कचरित। किसी भी एक व्यक्ति में कोई भी एक चरित स्पष्ट नहीं होता। अधिकतर चरित्रों का मिश्रण होता है, फलतः ६३ या ६४ प्रकार के पुद्गल हो जाते हैं।

समाधि के आलम्बन, जिसे बौद्ध शब्दावलि में 'कर्मस्थान' (कम्मट्ठान) कहते हैं—४० प्रकार के होते हैं, इनका भी सात भागों में वर्गीकरण किया गया है, यथा—

१. दस कात्स्न्र्य (कसिण)—पृथ्वीकात्स्न्र्य, अप्कात्स्न्र्य, तेजःकात्स्न्र्य, वायुकात्स्न्र्य, नीलकात्स्न्र्य, पीतकात्स्न्र्य, लोहितकात्स्न्र्य, अवदातकात्स्न्र्य, आकाशकात्स्न्र्य एवं आलोककात्स्न्र्य।

२. दस अशुभ—उद्ध्मातक, विनीलक, विपूयक, विच्छिद्रक, विखादितक, विक्षिप्तक, हतविक्षिप्तक, लोहितक, पुलवक एवं अस्थिक।

३. दस अनुस्मृतियाँ—बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, देवतानुस्मृति, उपशमानुस्मृति मरणानुस्मृति, कायगतास्मृति एवं प्राणापानस्मृति।

४. चार अप्रमाण—मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा। इन्हें ब्रह्मविहार भी कहते हैं।

५. आहार में प्रतिकूल संज्ञा।

६. चतुर्धातुव्यवस्थान।

७. चार आरूप्य—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिंचन्यायतन एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतन।

समाधि के उत्पाद के लिये कौन आलम्बन किस चरितवाले व्यक्ति के अनुकूल होता है? इसे इस प्रकार जानना चाहिये—

(क) दस अशुभ एवं कायगता स्मृति—ये ११ कर्मस्थान रागचरित पुद्गल के लिये अनुकूल होते हैं।

(ख) मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा तथा नील, पीत, लोहित एवं अवदात—ये ८ कर्मस्थान द्वेषचरित पुद्गल के अनुकूल होते हैं।

(ग) प्राणापानस्मृति कर्मस्थान मोह एवं वितर्क चरितवाले पुद्गल के अनुकूल है।

(घ) बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग, एवं देवतानुस्मृति ये छह अनुस्मृतियाँ श्रद्धाचरित पुद्गल के अनुकूल हैं।

(ङ) मरणानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, आहार में प्रतिकूलसंज्ञा, चतुर्धातु-व्यवस्थान—ये चार कर्मस्थान प्रज्ञाचरित पुद्गल के अनुकूल होते हैं।

(च) पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश एवं आलोक नामक छह कात्स्र्न्य तथा आकाशानन्त्यायतन आदि चार आरूप्य—ये १० कर्मस्थान सभी चरित-वाले पुद्गल के अनुकूल होते हैं।

इन चालीस कर्मस्थानों में से किसी एक को आलम्बन बनाकर जब भावना प्रारम्भ की जाती है, उस समय वह आलम्बन परिकर्मनिमित्त कहलाता है और भावना करनेवाला चित्त परिकर्मभावना कहलाता है। आँख मूँद लेने पर भी जब वह आलम्बन खुली आँखों से देखने की तरह चित्त द्वारा गृहीत होने लगता है, उस समय वह आलम्बन उद्ग्रहनिमित्त कहलाता है। इस उद्ग्रहनिमित्त को आलम्बन बनाकर जब और भावना की जाती है तो श्रद्धा आदि इन्द्रियों के अधिक विकसित हो जाने के कारण कुशल चित्तों को बाधा पहुँचानेवाले कामच्छन्द आदि नीवरण धर्म विगलित होने लगते हैं और भावना करनेवाली चित्तसन्तति में वितर्क आदि ध्यानाङ्ग प्रादुर्भूत होने लगते हैं। यद्यपि इस समय भावना करनेवाली सन्तति अर्पणाप्राप्त नहीं होती तथापि ध्यान के समीप पहुँच जाने से वह उपचारभावना या उपचारसमाधि कहलाती है। इस समय इसका आलम्बन भी उद्ग्रहनिमित्त की सीमा का अतिक्रमण करके प्रतिभागनिमित्त के रूप में अवभासित होता है। यह प्रतिभागनिमित्त उद्ग्रहनिमित्त की अपेक्षा अधिक विशुद्ध, प्रभास्वर एवं मसृण होता है। प्रतिभागनिमित्त के अवभासित होने के अनन्तर पुनः भावना की जाती है तो योगी थोड़ी ही देर में अर्पणाभावना या अर्पणासमाधि नामक रूपावचर प्रथम ध्यान प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त चालीस कर्मस्थानों में से बुद्धानुस्मृति आदि ८ अनुस्मृतियाँ, आहार में प्रतिकूल संज्ञा १, चतुर्धातुव्यवस्थान १, ब्रह्मविहार ४ एवं आरूप्य ४=१८ कर्मस्थानों में प्रतिभागनिमित्त प्रादुर्भूत नहीं होता। १० कात्स्र्न्य, १० अशुभ, कायगतास्मृति एवं प्राणापानस्मृति—इन २२ आलम्बनों में ही प्रतिभागनिमित्त प्राप्त होता है। बुद्धानुस्मृति आदि ८ अनुस्मृतियाँ, आहार में प्रतिकूल संज्ञा एवं चतुर्धातुव्यवस्थान—इन १० कर्मस्थानों की भावना करने पर उपचारभावना की ही प्राप्ति होती है, अर्पणा नामक ध्यान की प्राप्ति नहीं होती; अर्पणाभावना को प्राप्त करने में समर्थ अवशिष्ट ३० कर्मस्थानों में से

१० कात्स्न्यं एवं प्राणापानस्मृति—इन ११ आलम्बनों में से किसी एक को आलम्बन बनाकर भावना करने से प्रथम ध्यान से लेकर चतुर्थ ध्यान तक की प्राप्ति हो सकती है। १० अशुभ एवं कायगतास्मृति—इन ११ कर्मस्थानों में से किसी एक की भावना करने से केवल प्रथम ध्यान की ही प्राप्ति होती है। चार ब्रह्मविहारों में से मैत्री, करुणा एवं मुदिता की भावना से प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय ध्यान प्राप्त किये जा सकते हैं। उपेक्षा ब्रह्मविहार एवं चार आरूप्य की भावना से चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति होती है।

ध्यान कुल आठ होते हैं। चार रूपावचर एवं चार अरूपावचर ध्यान। इनमें से प्रथम रूपावचर ध्यान प्राप्त करने की विधि इस प्रकार है—

सर्वप्रथम कामगुणों में दोष देखकर ध्यान, मार्ग एवं फल की एकान्त अभिलाषा करनेवाला साधक स्वसम्बद्ध शील का विशोधन करे। तदन्तर ध्यान के दस विघ्नों[1] का समुच्छेद करके लक्षणसम्पन्न कल्याणमित्र के समीप जाकर कर्मस्थान ग्रहण करे। इसके बाद १८ प्रकार के अननुरूप विहार[2] का परिवर्जन एवं पाँच अंगों से समन्वागत विहार[3] का आसेवन करते हुए केश, नख आदि क्षुद्र विघ्नों[4] को पहले ही दूर कर भावना प्रारम्भ करे।

अर्पणा प्राप्त कराने में समर्थ कोई भी आलम्वन लेकर भावना प्रारम्भ की जा सकती है तथा सभी आलम्बनों की भावनाविधि भिन्न भिन्न है। यहाँ पृथ्वीकात्स्न्यं को आलम्बन बनाकर भावना करने की विधि दिखलायी

---

१. द्रष्टव्य—

आवासो च कुलं लाभो गणो कम्मं च पञ्चमं।
अद्धानं आति आबाधो गन्थो इद्धीति ते दस॥
—विसुद्धिमग्गा, पृ० २०१।

२. द्रष्टव्य—

महावासं नवावासं जरावासं च पन्थनिं।
सोण्डि पण्णं च पुप्फं च फलं पत्थितमेव च॥
नगरं दारुना खेत्तं विसभागेन पट्टनं।
पच्चन्तसीमासप्पायं यत्थ मित्तो न लब्भति॥
अट्ठारसेतानि ठानानि इति विञ्जाय पण्डितो।
आरका परिवज्जेय्य मग्गं सप्पटिभयं यथा॥
विसुद्धिमग्ग, पृ० २५९।

३. विसुद्धिमग्ग, पृ० २५९-६०।

४. विसुद्धिमग्ग, पृ० २६७।

जा रही है। साधक को भूरे रंग की साफ चिकनी एवं गीली मिट्टी लेकर किसी काष्ठफलक या वस्त्रखण्ड पर लेप करके १ बीते ४ अंगुल प्रमाण का समतल गोल मण्डल बनाना चाहिये तथा उस गोले को नील वर्ण के किनारे से घेर देना चाहिये। तदनन्तर उसे एकान्त स्थान में ले जाकर न अधिक दूर और न अधिक समीप जहाँ से मण्डल भलीभाँति दिखलाई दे आसन बिछाकर बैठ जाना चाहिये। तथा न अधिक विस्फार न अधिक संकोच, अपितु मध्यम परिमाण में आंख खोलकर उसे देखना चाहिये। इस प्रकार देखते हुये उसके वर्ण एवं कार्कश्य आदि के प्रति ध्यान न देकर पृथ्वी द्रव्य को ही देखना चाहिये। साथ ही मुख से 'पृथ्वी, पृथ्वी' आदि उच्चारण करते हुये या केवल चित्त से आवर्जन करते हुए भावना करनी चाहिये। भावना करते समय बीच-बीच में आंख खोलकर तथा कभी कभी आंख बन्द कर विचार करते हुए जब तक उद्ग्रहनिमित्त उत्पन्न न हो जाय, प्रयत्न करना चाहिये।

उद्ग्रहनिमित्त के उत्पन्न हो जाने पर अब वहाँ बैठने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, अतः अपने स्थान पर लौटकर प्रतिभागनिमित्त के उत्पाद के लिये उसी की पुनः पुनः भावना करनी चाहिये। प्रतिभागनिमित्त के उत्पन्न हो जाने पर पुनः भावना करने से पाँच ध्यानाङ्गों से समन्वागत उपचारसमाधि एवं प्रथमध्यान नामक अर्पणासमाधि प्राप्त होती हैं। वितर्क विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता ये पाँच ध्यानाङ्ग हैं। ज्ञातव्य है कि कामच्छन्द, व्यापाद, विचिकित्सा, स्त्यान-मिद्ध एव औद्धत्य-कौकृत्य-ये पाँच नीवरण धर्म समाधि के बाधक हैं। जब तक इनका प्रहाण नहीं होता, चित्त आलम्बन में यथेच्छ स्थिर नहीं हो पाता। वितर्क, विचार आदि ध्यानाङ्गों द्वारा इनका प्रहाण कर देने पर ध्यान का लाभ होता है। इनमें से वितर्क स्त्यान एवं मिद्ध का प्रहाण करता है। विचार विचिकित्सा का, प्रीति व्यापाद का, सुख औद्धत्य एवं कौकृत्य का तथा एकाग्रता कामच्छन्द का प्रहाण करते हैं।

द्वितीय आदि ध्यान प्राप्त करने की विधि—द्वितीय ध्यान के अभिलाषी साधक को प्राप्त हुए प्रथम ध्यान को ही पाँच वशिताओं[1] द्वारा वशीभूत करके पुनः पुनः भावना करनी चाहिये। वशीभाव प्राप्त हो जाने पर साधक द्वितीयादि ध्यान प्राप्त करने के लिए प्रथम ध्यान के पाँचों अंगों का आवर्जन करके उनमें से वितर्क और विचार के प्रति 'ये स्थूल धर्म हैं, इनके न होने पर ही

---

१. द्रष्टव्य—विसुद्धिमग्ग, पृ० ३२७-३३०।

चित्त शान्त होगा' इस प्रकार उनमें दोष देखकर वितर्कविचारविरागभावना करता है। फलतः उसी आलम्बन में वितर्क और विचार से रहित प्रीति, सुख और एकाग्रता-इन तीन अंगों वाला द्वितीयध्यान प्राप्त करता है। इसी नय से प्रीति में दोष देखकर प्रीतिविरागभावना के फलस्वरूप प्रीति से रहित सख और एकाग्रता इन दो अंगोंवाला तृतीय ध्यान प्राप्त करता है। इसी प्रकार सुख में दोष देखकर सुखविरागभावना के बल से सुखरहित उपेक्षा और एकाग्रता से युक्त चतुर्थ ध्यान प्राप्त करता है। इस चतुर्थ ध्यान को पादक बनाकर साधक चाहे तो नाना प्रकार की अभिज्ञाओं में सिद्धि प्राप्त कर सकता है, ऋद्धिविध अभिज्ञा, दिव्यश्रोत्र अभिज्ञा, परचित्तज्ञान अभिज्ञा, पूर्वनिवासानुस्मृति अभिज्ञा एवं दिव्यचक्षु अभिज्ञा संक्षेप में ये पाँच अभिज्ञायें हैं[1]।

अरूपावचर ध्यान—समस्त रूपी आलम्बनों के प्रति घृणा करनेवाला योगी प्राप्त चतुर्थ ध्यान में आदीनव (दोष) देखकर प्रथम आरूप्यविज्ञान को उपशमहेतु समझता हुआ उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। उसे आकाशकात्स्न्र्य वर्जित शेष ६ कात्स्न्र्यों में से किसी एक मण्डल को यथेच्छ विस्तृत करके रखना चाहिये। ऐसा करने पर चित्त में अतिविशाल प्रतिभाग-निमित्त अवभासित होगा। उस अवभासित कात्स्न्र्यमण्डल का आलम्बन न करके उसके द्वारा व्याप्त प्रदेश का 'अनन्तो आकासो, अनन्तो आकासो' (आकाश अनन्त है) इस प्रकार आकाशप्रज्ञप्ति का चित्त द्वारा मनसिकार करना चाहिये। इस प्रकार की परिकर्मभावना करने से जिस प्रकार किसी शुष्क कूप पर से ढक्कन हटाने पर शून्य विवर दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार विस्तृत प्रतिभागनिमित्त के हटाने पर अनन्त आकाश परिलक्षित होता है। इस प्रकार अवभासित आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन करके परिकर्म भावना द्वारा 'आकासो अनन्तो आकासो अनन्तो'—ऐसी पुनः पुनः भावना करते हुये जब पूर्वप्राप्त चतुर्थ ध्यान के प्रति तृष्णा से विमुक्ति होने लगती है, तब उपचारभावना की स्थिति आ जाती है। तदनन्तर और भावना करने पर आकाशानन्त्यायतन नामक प्रथम आरूप्य ध्यान-अर्पणा की उत्पत्ति होती है। इस ध्यान में उपेक्षा और एकाग्रता केवल ये दो अंग ही होते हैं।

इस ध्यान में अभ्यस्त हो जाने पर द्वितीय अरूपावचर ध्यान का अभिलाषी साधक इसमें भी दोष देखकर आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन न करके, अपितु

---

१. इनके स्वरूप, विस्तार एवं भावनाविधि के लिये द्र०—विसुद्धिमग्ग-इद्धिविधनिद्देस, पृ० ८११।

प्रथम आरूप्यविज्ञान का ही आलम्बन करके 'अनन्तं विज्ञान, अनन्तं विज्ञानं' इस प्रकार पुनः भावना करता है। इस प्रकार भावना करते हुए जब प्रथम आरूप्यविज्ञान के प्रति होनेवाली तृष्णा से मुक्ति होने लगती है तब उपचार-भावना की प्राप्ति होती है। तदनन्तर पुनः भावना करने पर द्वितीय आरूप्य-विज्ञान नामक विज्ञानानन्त्यायन ध्यान-अर्पणा की उत्पत्ति होती है।

आकिंचन्यायतन नामक तृतीय अरूपावचर ध्यान का अभिलाषी साधक द्वितीय अरूपावचर ध्यान में भी दोष देखने लगता है और तृतीय अरूपावचर ध्यान में ही गुण देखता है। प्रथम आरूप्य विज्ञान के उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने के कारण तथा उसका भंगमात्र भी अवशिष्ट न रहने के कारण 'नत्थि किंचि, नत्थि किंचि' (यह कुछ भी नहीं है) इस प्रकार नास्तिभावप्रज्ञप्ति की भावना करता है। ऐसा करते हुए जब द्वितीय आरूप्य ध्यान के प्रति तृष्णा से मुक्ति होने लगती है, तब उपचार भावना प्राप्त होती है। तदनन्तर पुनः भावना करने पर तृतीय अरूपावचर आकिंचन्यायतन नामक ध्यान-अर्पणा की प्राप्ति होती है।

चतुर्थ अरूपावचर ध्यान का अभिलाषी साधक तृतीय ध्यान में भी दोष देखकर 'संज्ञा गण्ड है, संज्ञा स्फोट है, संज्ञा शल्य है, न संज्ञा और न असंज्ञा ही उत्तम है, इस प्रकार भावना करता है। इस प्रकार तृतीय ध्यान में आदीनव और चतुर्थ अरूपावचर में गुण देखकर नास्तिभावप्रज्ञप्ति का आलम्बन न करके अपितु तृतीय अरूपावचर को ही 'यह शान्त है, यह प्रणीत है, इस प्रकार आलम्बन करके भावना करते हुए जब तृतीय ध्यान के प्रति भी तृष्णा से मुक्ति मिल जाती है, तो उपचार भावना की प्राप्ति होती है। तदनन्तर पुनः भावना करने पर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन नामक चतुर्थ ध्यान-अर्पणा की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार शमथभावना के अन्तर्गत गृहीत चार रूपावचर एवं ४ अरूपा-वचर ध्यानों का संक्षेप में निरूपण किया गया। ज्ञातव्य है कि रूपावचर ध्यानों में जब अग्रगति होती है, तब आलम्बन नहीं बदलता, केवल ध्यानाङ्गों में परिवर्तन होता है। एक ही आलम्बन में चारों ध्यान प्राप्त हो जाते हैं, केवल ध्यानाङ्ग बदलते रहते हैं, जबकि अरूपावचर ध्यानों में अंग नहीं बदलते। चारों अरूपावचर ध्यानों में उपेक्षा और एकाग्रता ये दो ध्यानाङ्ग बराबर बने रहते हैं, किन्तु आलम्बन बराबर बदलते रहते हैं। चारों ध्यानों के आलम्बन भिन्न भिन्न होते हैं। इसलिये कहा है—

आलम्बनातिक्कमतो चतस्सोपि भवन्तिमा।
अङ्गातिक्कममेतासं न इच्छन्ति विभाविनो ।।

(२) विपश्यना भावना—

मुख्यतः ज्ञान की भावना विपश्यनाभावना है। चित्तसन्तति में पुनः पुनः विपश्यनाज्ञान का उत्पाद इसका तात्पर्य है। यथार्थ वस्तुतत्त्व या निर्वाण के साक्षात्कारी मार्गज्ञान और फलज्ञान के उत्पाद की पूरी प्रक्रिया का नाम विपश्यनाभावना है। इसमें सात विशुद्धियाँ, दस विपश्यना ज्ञान एवं विमोक्षभेद आदि प्रधानतः ज्ञातव्य हैं।

१. शीलविशुद्धि—कायदुश्चरित, वाग्दुश्चरित एवं मनोदुश्चरित के अनुत्पाद के लिये अपने काय, वाक् एवं मन का संवरण ही शील है। प्रातिमोक्षसंवरशील, इन्द्रियसंवरशील, आजीवपरिशुद्धिशील एवं प्रत्ययसंनिश्रितशील 'शीलविशुद्धि' कहलाते हैं। 'मैं झूठ नहीं बोलूंगा' इत्यादि शिक्षापदों का उच्चारण करके प्रतिज्ञात शील ही प्रातिमोक्षसंवरशील है। इसके द्वारा झूठ बोलने आदि का क्षण उपस्थित होने पर व्यक्ति की उससे रक्षा की जाती है। इन्द्रियों का नियन्त्रण करनेवाला शील ही 'इन्द्रियसंवरशील' है। इसके लिये दृष्ट, श्रुत आदि धर्मों में अभिध्या, दौर्मनस्य आदि अकुशल धर्मों के अनुत्पाद के लिये दृढ़ स्मरण एवं सम्प्रजन्य आवश्यक होता है। वस्तुतः चित्तसंयम के द्वारा ही इस शील की रक्षा सम्भव है। जीविकोपार्जन के लिये किये जानेवाले विशुद्ध कायकर्म और वाक्कर्म की कारणभूत चेतना आजीवपरिशुद्धिशील है। चीवर, पिण्डपात शयनासन एवं भैषज्य इन चार प्रत्ययों में संनिश्रित शील ही प्रत्ययसंनिश्रित शील है।

१. चित्तविशुद्धि—कामच्छन्द आदि नीवरण मलों से चित्त की विशुद्धि 'चित्तविशुद्धि' कहलाती है। शमथ के लिये किसी कर्मस्थान (कम्मट्ठान) को आलम्बन बनाकर भावना प्रारम्भ करनेवाला योगी जब उपचार भावना तक पहुँच जाता है, उस समय उसकी चित्तसन्तति नीवरण धर्मों से विशुद्ध हो जाती है अतः उपचारसमाधि 'चित्तविशुद्धि' है। अर्पणाभावना द्वारा चित्तविशुद्धि के बारे में तो कुछ कहना ही नहीं है। अतः विपश्यनाभावना के अभिलाषी साधक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह अपने चित्त की विशुद्धि के लिये किसी एक शमथकर्मस्थान में कम से कम उपचार समाधि अवश्य प्राप्त कर ले।

३. दृष्टिविशुद्धि— चित्त, चैतसिक एवं रूप आदि धर्मों के लक्षणों का सम्यक् परिज्ञान होने से रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार एवं विज्ञान नामक पाँच स्कन्धों से व्यतिरिक्त वस्तुभूत कोई आत्मा नामक द्रव्य नहीं है, इसका बोध हो जाता है। इस प्रकार का बोध ही आत्मदृष्टि नामक मल से विशुद्ध होने के कारण 'दृष्टिविशुद्धि' कहलाता है। वस्तुतः आत्मदृष्टि नामक मल से विशुद्ध दर्शन ही 'दृष्टिविशुद्धि' है।

४. कांक्षावितरणविशुद्धि—'मैं अतीत भव में था या नहीं, अनागत भव में होऊँगा कि नहीं, सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध हुये कि नहीं, इत्यादि शंकाओं का अतिक्रमण करनेवाला ज्ञान, जो अहेतुकदृष्टि, विषमहेतुकदृष्टि आदि मलों से सुविशुद्ध होता है, 'कांक्षावितरणविशुद्धि' कहलाता है। इसके लिये सर्वप्रथम दृष्टिविशुद्धि की अवस्था में ज्ञात नाम एवं रूप धर्मों के कारणों का परिग्रह करना होता है। अर्थात् अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते हैं—इत्यादि प्रकार से कार्यकारणभाव का सम्यक् परिज्ञान आवश्यक होता है।

५. मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि—

विशुद्धि में संलग्न योगी की सन्तान में विपश्यनाभावना के बल से अवभास (शारीरिक कान्ति), प्रीति, प्रश्रब्धि आदि १० धर्म[१] उत्पन्न हो जाया करते हैं। भूल से साधक उन्हें मार्ग समझकर उनके प्रति अनुराग करने लगता है। अर्थात् उसे विपश्यनारति हो जाती हैं। फलतः उसकी अग्रगति रुक जाती है और विपश्यनाक्रम बिगड़ जाता है। ऐसे समय में अपनी भूल समझकर पुनः विपश्यनाभावना करने से सही मार्ग की प्राप्ति हो जाती है। शरीरकान्ति आदि के प्रति अनुरक्त न होकर लगातार विपश्यनाभावना करना ही मार्ग एवं फल की प्राप्ति का 'मार्ग है। तथा शरीरकान्ति (अवभास), प्रीति आदि 'अमार्ग' हैं—इस प्रकार मार्ग एवं अमार्ग को ठीक-ठीक जानने वाला ज्ञान ही 'मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि' है।

(१) सम्मर्शन ज्ञान—

ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त चार विशुद्धियों की अवस्था में नाम-रूप धर्मों की अनित्य, दुःख एवं अनात्म रूप में विपश्यना नहीं की जाती। शीलविशुद्धि

१. द्रष्टव्य—

ओभासो पीति पस्सद्धि अधिमोक्खो च पग्गहो।
सुखं ञाणमुपट्ठानमुपेक्खा च निकन्ति च॥

अभिधम्मत्थ संगहो ९:५५ पृ० ९३३।

की अवस्था में केवल शील की विशुद्धि का प्रयास किया जाता है। चित्त-विशुद्धि की अवस्था में चित्तविशोधन के लिये समाधि की प्राप्ति का प्रयत्न होता है। दृष्टिविशुद्धि की अवस्था में नाम एवं रूप धर्मों का पृथक्-पृथक् परिच्छेद किया जाता है तथा कांक्षावितरणविशुद्धि की अवस्था में उन नाम-रूप धर्मों के कारणों का अन्वेषण किया जाता है। इस मार्गामार्गज्ञानदर्शन-विशुद्धि की उत्पत्ति के लिये त्रैभूमिक नाम-रूप संस्कार धर्मों के अनित्य, दुःख, अनात्म लक्षणों का सम्मर्शन किया जाता है। उस सम्मर्शन के चार प्रकार हैं। कलापसम्मर्शन—इसमें एक-एक स्कन्ध का पिण्ड के रूप में सम्मर्शन किया जाता है। अद्धसम्मर्शन—इसमें अतीत, अनागत आदि कालभेद करके विचार किया जाता है। सन्ततिसम्मर्शन—इसमें सन्तति का सम्मर्शन किया जाता है। क्षणसम्मर्शन—इसमें उत्पाद, स्थिति, भंग आदि क्षणों से भेद करके वस्तु का विचार किया जाता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म सम्मर्शन है।

(२) उदयव्ययज्ञान—

सम्मर्शन ज्ञान के अनन्तर पुनः भावना करने से उदयव्यय ज्ञान की उत्पत्ति होती है। नाम-रूप धर्म न तो अपने उत्पाद से पूर्व सत् रहते हैं और न भंग (निरोध) के अनन्तर ही किसी रूप में अनुस्यूत रहते हैं। कारण-सामग्री के सन्निधान के अव्यवहित अनन्तर उत्पन्न होते हैं और उत्पादसमनन्तर ही निरुद्ध हो जाया करते हैं। अर्थात् कारणसामग्री से प्रति-क्षण नवीन धर्मों का उत्पाद होता है और उत्पादानन्तर निरनुबन्ध विनाश हो जाता है। जिस प्रकार सूई की नोक पर सरसों रखते ही गिर जाती है, उस प्रकार समस्त संस्कार धर्म उत्पन्न होते ही निरुद्ध हो जाते हैं—इस प्रकार का ज्ञान उदयव्ययज्ञान है।

६. प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि—

उपर्युक्त उदयव्ययज्ञान द्वारा धर्मों के उदय एवं व्यय का ज्ञान हो जाने पर भी विपश्यनोपक्लेशक धर्मों के कारण उनके अनित्य आदि लक्षणत्रय स्पष्ट नहीं होते। मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि की अवस्था में उनका प्रहाण कर देने के अनन्तर पुनः अनित्य, दुःख एवं अनात्म लक्षणों के स्फुट ज्ञान के लिए भावना की जाती है। इस तरह उदयव्ययज्ञान से लेकर अनुलोमज्ञान पर्यन्त प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि का क्षेत्र है। इस विशुद्धि की अवस्था में वह ज्ञान उत्पन्न होता है जो अनित्य आदि लक्षणों को आंख से देखने की भांति देखता है। साथ ही वह क्लेश धर्मों से विशुद्ध होता है और वही मार्ग एवं फल की

प्राप्ति का कारण भी होता है। इसलिए उसे 'प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि' कहते हैं।

(३) भंगज्ञान—

पूर्वोक्त उदयव्ययज्ञान द्वारा नाम एवं रूप धर्मों के उदय एवं व्यय का ज्ञान हो जाने पर भी वे उदय और व्यय इतने शीघ्रतया घटित होते हैं कि उनमें से भङ्ग ही अधिक स्पष्टता से परिलक्षित होता है। यह भंग ज्ञान तब पूर्णता को प्राप्त हो जाता है, जब किसी एक संस्कारधर्म के भंग को आलम्बन बनाने वाले ज्ञान के भी भङ्ग का बोध होने लगता है।

(४) भयज्ञान—

उपर्युक्त भंगज्ञान जब समस्त त्रैयध्विक संस्कार धर्मों के भंग ही भंग का दर्शन करता है तो उन संस्कार धर्मों से भय होने लगता है। अर्थात् ये संस्कार धर्म भयोत्पादक हैं—ऐसा बोध होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि विपश्यनाभावना करनेवाला योगी भयभीत होने लगता है, अपितु उसे संस्कारधर्मों के भयोत्पादकता स्वभाव का साक्षात्कार होता है।

(५-७) आदीनवज्ञान, निर्वेदज्ञान एवं मोक्तुकाम्यताज्ञान—

संस्कार धर्मों में भयज्ञान होने के अनन्तर उनमें दोष देखनेवाला आदीनव ज्ञान, उनके प्रति उदासीन या वितृष्ण रहनेवाला निर्वेद ज्ञान, तथा उनसे छुटकारे की इच्छा वाला मोक्तुकाम्यताज्ञान उत्पन्न होता है।

(८) प्रतिसंख्याज्ञान--

उपर्युक्त मोक्तुकाम्यता ज्ञान की अवस्था में संस्कार धर्मों से केवल मुक्त होने की कामना भर होती है, योगी उनसे मुक्त नहीं हो पाता। इस प्रतिसंख्याज्ञान द्वारा योगी उनसे सर्वथा मुक्ति का प्रयास करता है, फिर भी वे आसानी से छूट नहीं पाते। फलतः वह (योगी) उनके अनित्य, दुःख, अनात्म लक्षणों की पुनः पुनः भावना करता है, जिससे कि उन धर्मों के प्रति नित्य, सुख एवं आत्मदृष्टि का उत्पाद न होने पाये।

(९) संस्कारोपेक्षाज्ञान—

उपर्युक्त प्रतिसंख्या ज्ञान द्वारा संस्कार धर्मों का त्याग कर देने के अनन्तर उनके प्रति उपेक्षा बरतने वाला संस्कारोपेक्षाज्ञान उत्पन्न होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यह ज्ञान संस्कार धर्मों का आलम्बन ही नहीं

करता; क्योंकि समस्त विपश्यना ज्ञान संस्कार धर्मों का आलम्बन करके ही प्रवृत्त होते हैं। फिर भी यह ज्ञान उनके प्रति राग या द्वेष नहीं करता, अपितु उपेक्षापूर्वक अनित्य-दुःख-अनात्म की विपश्यनामात्र करता है।

(१०) अनुलोमज्ञान—

इस ज्ञान के अनन्तर अवश्य मार्ग एवं फल की प्राप्ति होती है। फलतः यह ज्ञान ऊपर के मार्ग एवं फल की अवस्था में प्राप्त होने वाले बोधिपक्षीय धर्मों के तथा नीचे के उदयव्ययज्ञान आदि ८ विपश्यनाज्ञानों के अनुकूल होने के कारण 'अनुलोम' ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान मार्गवीथि में आनेवाले परिकर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू इन चार कृत्यों में से प्रथम तीन को निष्पन्न करता है। गोत्रभू संस्कार धर्मों का आलम्बन नहीं करता, वह केवल निर्वाण का ही आलम्बन करता है। अतः वह विपश्यनाज्ञानों में सम्मिलित नहीं होता, अपितु विपश्यनाज्ञानों के मूर्धा के सदृश होने से विपश्यना में संगृहीत होता है। यह अनुलोमज्ञान व्युत्थानगामिनी विपश्यना भी कहलाता है। यहां व्युत्थान से तात्पर्य मार्ग एवं फल ज्ञान से है।

गोत्रभू ज्ञान—

पृथग्जन गोत्र का अभिभव करके आर्य गोत्र को उत्पन्न करने वाला ज्ञान 'गोत्रभू' कहलाता है। यद्यपि यह निर्वाण का आलम्बन करता है तथापि पूर्ववर्ती चित्तों द्वारा आसेवनप्रत्ययप्राप्त न होने से उस आलम्बन में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। यह निर्वाण का सर्वप्रथम द्रष्टा होने से मार्ग से पूर्व आवर्जन के स्थान पर होता है। फलतः तदनन्तरोत्पन्न मार्गज्ञान ही निर्वाण में सुप्रतिष्ठित होता है।

मार्ग एवं फल की उत्पत्ति

गोत्रभू चित्त का निरोध होने के अनन्तर ४ कृत्यों का एक साथ सम्पादन करनेवाला मार्गचित्त उत्पन्न होता है। दुःखसत्य का परिज्ञाकृत्य, तृष्णा नामक समुदयसत्य का प्रहाणकृत्य, निरोध-सत्य का साक्षात्कारकृत्य एवं मार्गसत्य का भावनाकृत्य—इन चार कृत्यों का मार्गचित्त युगपद् सम्पादन करता है। मार्गचित्त यद्यपि दुःखसत्य की परिज्ञा करता है, तथापि वह उसे आलम्बन नहीं बनाता। आलम्बन तो केवल निरोध का ही करता है। फिर भी वह दुःखसत्य का ज्ञान असम्मोहप्रतिवेध द्वारा परिच्छेद करके कर लेता है। मार्ग चित्त केवल एक बार (एक क्षण) प्रवृत्त होता है। तद-

नन्तर फलचित्तों का उत्पाद होता है। एक बार उत्पन्न होने पर भी वह दर्शनहेयक्लेशों का समूल प्रहाण कर देता है।

७. ज्ञानदर्शनविशुद्धि—

चार आर्य सत्यों का साक्षात्कारी ज्ञान, जो क्लेश मलों से विशुद्ध होता है, 'ज्ञानदर्शनविशुद्धि' कहलाता है।

उपसंहार—उपर्युक्त सात विशुद्धियों में से शीलविशुद्धि एवं चित्तविशुद्धि अवशिष्ट समस्त विशुद्धियों की मूल हैं। यदि ये न हों तो ऊपर की पांच विशुद्धियों का उत्पाद सर्वथा अशक्य है। शीलविशुद्धि, चित्तविशुद्धि, दृष्टिविशुद्धि एवं कांक्षावितरणविशुद्धि—इन चार विशुद्धियों की अवस्था में नाम-रूप धर्मों का अनित्य, दुःख, अनात्म लक्षणों द्वारा सम्मर्शन नहीं किया जाता। मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि की अवस्था में सम्मर्शनज्ञान एवं उदय-व्ययज्ञान का पूर्वभाग होता है। प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि की अवस्था में उदयव्ययज्ञान का अन्तिम भाग, भंगज्ञान, भयज्ञान, आदीनवज्ञान, निर्वेदज्ञान मोक्तुकाम्यताज्ञान, प्रतिसंख्याज्ञान, संस्कारोपेक्षाज्ञान एवं अनुलोमज्ञान होते हैं। ज्ञानदर्शनविशुद्धि की अवस्था में कोई विपश्यनाज्ञान नहीं होता। इस अवस्था में केवल निर्वाण का ही आलम्बन होता है।

विमोक्षभेद

व्युत्थानगामिनी विपश्यना तक पहुँचने से पहले संस्कार धर्मों की अनित्य, दुःख, अनात्म रूप में अनेकशः भावना करनी पड़ती है। यदि व्युत्थानगामिनी विपश्यना नाम-रूप धर्मों में से किसी एक की 'यह अनात्म है' इस प्रकार विपश्यना करती है तो वह आत्माभिनिवेश का प्रहाण करने में समर्थ होने के कारण 'शून्यतानुपश्यना विमोक्षमुख' कहलाती है। उसके अनन्तर प्राप्त मार्ग और फल 'शून्यताविमोक्ष' कहलाते हैं। इसी तरह 'यह अनित्य है' इस प्रकार विपश्यना करनेवाली व्युत्थानगामिनी विपश्यना नित्यताविपर्यास का प्रहाण करने में समर्थ होने के कारण 'अनिमित्तानुपश्यना विमोक्षमुख' कहलाती है तथा तदनन्तर प्राप्त मार्ग एवं फल 'अनिमित्त विमोक्ष' कहलाते हैं। 'यह दुःख है' इस प्रकार भावना करनेवाली व्युत्थानगामिनी विपश्यना तृष्णाप्रणिधि के प्रहाण में समर्थ होने के कारण 'अप्रणिहितानुपश्यना विमोक्षमुख' कहलाती है तथा तदनन्तर मार्ग एवं फल अप्रणिहित विमोक्ष कहलाते हैं।

श्रद्धेन्द्रिय योगी प्राय: अनित्य की विपश्यना करनेवाला होता है, अतः वह 'अनिमित्तविमोक्ष' प्राप्त करता है। समाधीन्द्रिय योगी प्राय: दुःख की विपश्यना करनेवाला होता है, अत: 'अप्रणिहितविमोक्ष' प्राप्त करता है तथा प्रज्ञेन्द्रियाधिक्य योगी प्राय: अनात्म की विपश्यना करनेवाला होने से 'शून्यता-विमोक्ष' प्राप्त करता है।

अपिच—मार्ग एवं फलों का आलम्बन निर्वाण ही होता है। वह निर्वाण शून्य, अनिमित्त एवं अप्रणिहित ही होता है, अत: उसका आलम्बन करनेवाले मार्ग एवं फल आलम्बन के वश से शून्यताविमोक्ष, अनिमित्तविमोक्ष या अप्रणिहित विमोक्ष ही होते हैं।

मार्ग एवं फल राग आदि क्लेश धर्मों से सर्वथा शून्य होते हैं, संस्कार निमित्तों का आलम्बन न करके सदा निर्वाण का ही आलम्बन करते हैं तथा विषयों के प्रति अभिलाषवान् भी नहीं होते, अत: स्वभावतः भी वे शून्यताविमोक्ष, अनिमित्तविमोक्ष एवं अप्रणिहितविमोक्ष कहलाते हैं।

पुद्गलभेद—

उपर्युक्त प्रकार से मार्ग एवं फल की प्राप्ति हो जाने पर योगी अपनी चित्तसन्तति में उत्पन्न प्रत्येक घटना का प्रत्यवेक्षण करता है। इस समय उसका चित्त अत्यन्त विशुद्ध होता है। मार्गज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद पुद्गल पृथग्जन नहीं रहता। वह आर्य हो जाता है। यदि वह अपने द्वारा प्राप्त ज्ञान को पुन: प्राप्त करना चाहता है, तो उसे उदयव्ययज्ञान से लेकर क्रमशः भावना करनी पड़ती है। अन्त में संस्कारोपेक्षाज्ञान के अनन्तर फलज्ञान की प्राप्ति होती है। इसे ही 'फलसमापत्ति' कहते हैं। स्रोतापत्ति मार्ग एवं फल प्राप्त पुद्गल 'स्रोतापन्न' कहलाता है। इसी तरह सकृदागामी मार्ग एवं फल प्राप्त पुद्गल 'सकृदागामी', अनागामी मार्ग एवं फल प्राप्त पुद्गल 'अनागामी' तथा अर्हत् मार्ग एवं फल प्राप्त पुद्गल 'अर्हत्' कहलाता है। अर्हत् के लिये कुछ भी प्राप्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता। वह कृतकृत्य हो जाता है और यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

स्रोत आपन्न हो जाने के बाद पुद्गल इस संसार में अधिक से अधिक सात बार जन्म ग्रहण करता है। वह कभी भी तिर्यक्, नरक प्रेत या असुर योनि में उत्पन्न नहीं होता। सकृदागामी हो जाने पर पुद्गल इस संसार में अधिक से अधिक दो बार जन्म ग्रहण कर सकता है। एकबार देवभूमि में और एक बार कामभूमि में जन्मग्रहण करता है। अनागामी होने पर

पुद्गल इस कामभूमि में उत्पन्न न होकर केवल ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होकर अर्हत् मार्ग एवं फल प्राप्त करके निर्वाण प्राप्त कर लेता है। अर्हत होने पर पुद्गल जब च्युत होता है तक उसके समस्त नाम-रूप धर्मों का अशेष प्रहाण हो जाता है और वह निरुपधिशेष निर्वाण धातु का लाभी होता है।

स्थविरवादी बौद्ध साधना का यही अन्तिम लक्ष्य है। जो चित्त के द्वारा रूप को आलम्बन बनाकर प्रारम्भ होती है और अपनी रूपसन्तति और चित्तसन्तति के अशेष निरोध में पर्यवसित होती है। यह उनके अनात्मवादी विचार और साधना का फलितार्थ है। बौद्ध कभी काल्पनिक अर्थ को सत्य समझकर उसकी प्राप्ति के इच्छुक नहीं होते। वे अपने ज्ञान का परीक्षण सर्वदा वस्तु के साथ संगति की कसौटी पर करते रहते हैं। इसीलिये वे कभी किसी नित्य या काल्पनिक द्रव्य या अवस्था की प्राप्ति के लिये साधना आरम्भ नहीं करते। यही कारण है कि निरुपधिशेष निर्वाण ही इसकी अन्तिम उपलब्धि है।

—श्री रामशङ्कर त्रिपाठी

महायान साधना का विकास

महायान की साधना का उद्गम सम्पूर्ण बौद्ध इतिहास में एक क्रान्तिकारी घटना है। विश्व के आध्यात्मिक विकास के इतिहास में भी इस जोड़ की दूसरी घटना नहीं दिखाई देती। भगवान् बुद्ध ने मध्यममार्ग—चार आर्य सत्य, आर्य अष्टांगिक-मार्ग एवं प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना से मानव जीवन के समक्ष एक विराट् आध्यात्मिक लक्ष्य रखा और वाह्य कर्मकाण्ड के स्थान पर कर्तव्य के रूप में विविध प्रकार से 'अपरिमित मैत्री' एवं चित्त-शुद्धि के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। किन्तु जब तक साधना क्षेत्र में महायान का उद्गम नहीं हुआ, तब तक मध्यमार्ग की वह अन्तर्निहित विशालता प्रकट नहीं हुई, जिससे यह निश्चित हो सकता कि व्यक्ति का दुःखों से छुटकारा पा लेना मात्र जीवन का लक्ष्य नहीं है, अपितु आर्त्तजगत् के दुःखों को स्वयं अङ्गीकार कर उन्हें दुःखों से परित्राण करना है। इससे आध्यात्मिक साधनाओं की दिशा केवल लोकाभिमुखी ही नहीं हुई, प्रत्युत भारतीय साधना के एक विशाल क्षेत्र में आध्यात्मिक विकास के लिये लोक-परित्राण के महत्त्व को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अध्यात्मसाधना व्यक्तिगत क्षेत्र से उठकर लोक-परायण बन गयी। आध्यात्मिक क्षेत्र की इस क्रान्तिकारी मान्यता का न्यूनाधिक प्रभाव परवर्ती सभी भारतीय साधनाओं पर पड़ा इसीलिये ज्ञान, कर्म, भक्ति और तन्त्रों के पूर्व रूप में महायान उद्भव के पश्चात् जो मौलिक परिवर्तन हुए हैं, उनके अध्ययन के बिना भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष को समझना बहुत ही अपूर्ण होगा। तज्ज्ञ विद्वानों ने ईसाई धर्म पर पड़े हुए बौद्ध प्रभाव का अध्ययन किया है। इसी प्रकार इस्लाम पर भ्रातृत्व और अंशतः निवृत्तिपरायणता के रूप में बौद्ध प्रभाव स्वीकार किया जाता है।

साधना का उद्गम

महायान की दिशा में बौद्ध साधना का प्रारम्भ ईस्वी पूर्व लगभग तृतीय शताब्दी में माना जाता है। उसका ग्रन्थ के रूप में सुविकसित आधार अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र में मिलता है। बौद्ध सम्प्रदायों के विकास क्रम में महायान का उद्भव महासांघिक सम्प्रदाय से माना जाता है। महासांघिक सम्प्रदाय का उद्गम भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग १०० वर्ष पश्चात् वैशाली की द्वितीय संगीति के ऐतिहासिक अवसर पर ही हो चुका था। इस घटना के सौ-सवा सौ वर्षों के उपरान्त सम्राट अशोक तक जितने

बौद्ध निकायों का विस्तार हो चुका था, उनका १८ प्रमुख निकायों में संग्रह कथावत्थु ग्रन्थ में मिलता है। महासांधिकों के उद्भव के साथ ही उससे प्राचीन सभी सिद्धान्तों एवं साधनाओं का एक संग्राहक नाम पड़ा "स्थविरवाद"। महासांघिक तात्कालिक सभी अर्वाचीन सिद्धान्तवादियों में प्रमुख थे, फलतः वे सभी परवर्ती निकायों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी कारण बाद में विकसित होने वाले चैत्यवादी, शैलवादी वैपुल्यवादी एवं अन्धकों आदि से महासांधिकों को स्पष्टतया अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में महासांघिकों के वैचारिक एवं आचारगत पृष्ठभूमि में ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी तक आन्ध्र प्रदेश में अन्यान्य बौद्ध निकाय खड़े हो गये। इन्हीं सब निकायों के सैद्धान्तिक और आचारगत आंशिक अनुदानों से "महायान" एक विशाल सम्प्रदाय के रूप में प्रतिफलित हुआ। बौद्धों की साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार सारनाथ के धर्मचक्र-प्रवर्तन के अतिरिक्त राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर भी भगवान् बुद्ध द्वारा द्वितीय धर्मचक्र-प्रवर्तन किया गया था, महायान की देशना उसी के द्वारा प्रवर्तित हुई थी। ऐतिहासिक आधारों से इतना ज्ञात है कि वैशाली में स्थविरवाद के विरोध में बहुत बड़ा मतभेद खड़ा हुआ, विरोधियों ने अपना अस्तित्व 'महासांघिक' नाम से अलग स्थापित किया, जिसका परवर्त्ती विकास महायान के रूप में हो सका।

ऐतिहासिक एवं साम्प्रदायिक दोनों दृष्टियों से निश्चित कहा जा सकता है कि महायान का प्रथम उद्गम वैशाली और मगध की भूमि में हुआ, किन्तु उसे सुगठित रूप मिला ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक दक्षिण के आन्ध्र प्रदेश में, सम्भवतः धान्यकटक में, जो वर्तमान काल में गुंटूर जिला स्थित धरनीकोट का प्रदेश है। आन्ध्र नरेश शातवाहन ने महायान का नये एवं सुविकसित रूप में उत्तर भारत में मगध तक पुनः प्रचार किया। फिर मगध से उत्तर पश्चिम दिशा में महायान का प्रसार बढ़ा। मानवीय दृष्टि से महायान की प्रेरणायें इतनी आकर्षक थीं कि ईसवीय प्रथम शताब्दी में ही यह महान धर्म भारत की पश्चिमोत्तर सीमा को लांघकर बीच के सारे प्रदेशों को दीक्षित करते हुए पूरे मध्य एशिया और चीन की ओर अग्रसर हो गया। फलतः अगली दो-तीन शताब्दियों के ही बीच जापान, कोरिया, मंगोलिया आदि दर्जनों देशो में महायान का सद्धर्म सुप्रतिष्ठित हो गया।

साधना-साहित्य

महायान का साहित्य दो भागों में विभक्त है—१–सूत्र और २–शास्त्र। महायान के पूर्ववर्त्ती सम्प्रदाय महासांघिक आदि अनेक सम्प्रदायों का पिटकादि साहित्य अनेकविध प्राकृतों एवं संकर संस्कृतों में ग्रथित था, जिनमें

महावस्तु, दिव्यावदान, अवदानशतक आदि कुछ ग्रन्थों को छोड़कर शेष साहित्य संस्कृत में नहीं मिलता। इन ग्रन्थों के अभाव में परवर्ती काल के विकसित महायानी रूपों की पृष्ठभूमि का पूरी तरह आकलन नहीं किया जा सकता। शिक्षासमुच्चय आदि ग्रन्थों में उपलब्ध सन्दर्भों के आधार पर तथा नैंजियो आदि के चीनी सूची-ग्रन्थों के आधार पर महायान के सूत्रों की संख्या पांच सौ से भी ऊपर जाती है। इदानीन्तन मूल संस्कृत में उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या तीस के लगभग है। यह ज्ञातव्य है कि महासांघिकों से उद्गत सम्प्रदायों में वैतुल्यवादी या वैपुल्यवादी नाम से एक प्रसिद्ध सम्प्रदाय था, कथावत्थु तथा उसकी अट्ठकथा के अनुसार वह शून्यतावादी था, जिसका उक्त ग्रन्थ में स्थविरवाद की दृष्टि से खण्डन किया गया है। उपलब्ध महायान सूत्रों की साधना का प्रधान आधार शून्यता ही है। महायान सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय है—शून्यता के आधार पर बोधिसत्त्व की साधना और चर्या। महायान शास्त्रों का भी विषय—शून्यताधारित दार्शनिक विवेचन है। सम्पूर्ण महायानदर्शन उसका शास्त्र-साहित्य है। शास्त्र-साहित्य में ऐसे भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, जिनका प्रधान विषय महायान-साधना है। उनमें संस्कृत में उपलब्ध कुछ प्रमुख ग्रन्थ हैं—अश्वघोष का महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र, मैत्रेय और असंग का महायानसूत्रालंकार, मध्यान्तविभागशास्त्र और अभिसमयालंकार तथा उस पर हरिभद्र की आलोक टीका, शान्तिदेव का शिक्षासमुच्चय एवं बोधिचर्यावतार।

महायान के विभाग

महायान-दर्शन के सुपरिचित विभाग दो हैं—१—माध्यमिक या शून्यवाद और २—योगाचार या विज्ञानवाद। इन दोनों विभागों के अनेक अन्तर्गत विभाग हैं। किन्तु सभी प्रकार के महायानी शून्यता को परमार्थ मानते हैं। शून्यता के इस मूलभूत समान सिद्धान्त के आधार पर ही ये सभी महायानी माने जाते हैं। आचार्य नागार्जुन के एक विशेष प्रकार के सर्वशून्यतावाद से भिन्नता बताने के लिये वसुबन्धु प्रभृति आचार्यों को विज्ञानवादी कहा जाता है। वास्तव में विज्ञानास्तित्व के द्वारा शून्यता का ही बोध होता है। शून्यता की परमार्थता के आधार पर ही दोनों प्रकार के महायानियों की साधना बढ़ती है। आचार्य असंग कहते हैं—जब प्रज्ञा से यह देखा जाता है कि चित्त के विलास से भिन्न जगत् नहीं है, तो उसी से चित्त का अनस्तित्व भी ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार जब चित्त-बाह्य एवं चित्तान्तर्वर्ती दोनों

प्रकार के जगत के नास्तित्व का बोध हो जाता है, तब परमार्थभूत धर्मधातु को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

महायान के आचार्य

महायान दर्शन के प्रवर्तकों में भी प्रमुख आचार्य प्राय: दाक्षिणात्य हैं, किन्तु इसका विकास एवं प्रसार उत्तर एवं पश्चिम भारत के आचार्यों द्वारा ही सम्भव हुआ। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र में इस ऐतिहासिक तथ्य का स्पष्ट संकेत मिलता है। महायान शास्त्रों के प्रवर्तक आचार्यों में नागार्जुन, आर्यदेव, भव्य, बुद्धपालित, मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति एवं हरिभद्र आदि प्रमुख हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि संस्कृत में उपलब्ध महत्त्वपूर्ण अधिकांश महायान सूत्र एवं शास्त्रों का प्रकाशन मिथिला अनुसन्धान संस्थान द्वारा हो रहा है। ईसा पूर्व लगभग तीसरी शताब्दी में महासांघिकों के उद्भव से लेकर ईशवीय शतक के प्रारंभ में सम्राट् कनिष्क के काल तक विभिन्न रूपों में एक विशेष धारा में साधना का विकास होता रहा, जिसके अन्त में बोधिसत्त्व-साधना फलित हुई। उस साधना की दार्शनिक व्याख्या आचार्य नागार्जुन एवं आर्यदेव द्वारा की गयी। ह्वेनसांग के अनुसार कनिष्क के काल में अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव और कुमारलब्ध ये चार आचार्य संसार को प्रकाशित करने वाले चार सूर्यों के समान थे। आचार्य वसुमित्र की अध्यक्षता में जालन्धर या कश्मीर के कुण्डलवन विहार में सम्राट् कनिष्क ने जो बौद्ध साधकों एवं विद्वानों की चतुर्थ संगीति आयोजित की थी, उसी में सर्वास्तिवाद से महायान का भेद स्पष्ट हुआ और संभवत: उसके बाद से ही पूर्ववर्त्ती बौद्ध सम्प्रदायों को 'हीनयान' नाम दिया जाने लगा।

हीनयान से महायान का भेद

हीनयान से महायान के अनेक भेद हैं, किन्तु साधना की दृष्टि से तीन प्रमुख भेद हैं—(१) बोधिचित्त के द्वारा ६ या १० पारमिताओं की साधना, (२) दशभूमियाँ तथा (३) त्रिकायवाद।

बोधिसत्त्वसाधना

महायान की साधना बोधिसत्व की साधना कही जाती है। बोधिसत्व-साधना का प्रारम्भ बोधिचित्त से होता है। बोधिचित्त परार्थचित्त है। सामान्यत: परार्थचित्तता से ऐसा ज्ञात होता है कि यह चित्त की परोपकारी

वृत्ति है, वास्तव में यह प्रचलित परार्थता उससे बहुत भिन्न और उत्कृष्ट हैं। सभी सम्प्रदायों में साधना का मेरु-दण्ड चित्त माना जाता है, किन्तु बोधिसत्व-साधना का आधार अचित्तता है। इस अचित्तता की भूमि पर ही परार्थ-चित्तता खड़ी की जा सकती है। यही बोधिसत्त्व साधना का योग-मार्ग है और बुद्धत्व-लाभ उसकी पराकाष्ठा है। दुःखी एवं आर्त्तजनों के उद्धार की अनवरत क्रिया ही बुद्धत्व है। इसलिये किसी भी महायानी साधक की यही तीव्र आकांक्षा रहती है कि अनागत बुद्धों की गणना में वह प्रविष्ट हो सके, इसके लिये वह आत्म-त्याग, जीवनत्याग से कभी नहीं चूकता। महायान की मान्यता है कि बुद्धत्व का बीज मनुष्य मात्र में है, इसलिये उनके मत में सभी मनुष्य बुद्ध-गोत्र या तथागत-गोत्र माने जाते हैं। इसीलिये वे कहते हैं कि सभी में बुद्धत्व-लाभ करने की शक्ति बीजरूप में निहित है। इसके लिये साधक को सर्वप्रथम बोधिचित्त का उत्पाद करना होगा, अर्थात् समग्र जगत् के परित्राण के लिये मैं भी बुद्धत्व प्राप्त करूँ—इस प्रकार की चेतना का प्रणिधान लेना होगा। इस संकल्पित परार्थ-मार्ग पर साधक जैसे-जैसे प्रस्थान करता जायगा, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर इस वास्तविकता का उसे ज्ञान होने लगेगा कि साधना की भूमि अचित्तता ही है। हम देखेंगे कि अचित्तता के आधार पर ही वास्तविक रूप में परार्थचित्तता खड़ी हो सकती है।

प्रज्ञापारमिता एवं अचित्तता

अचित्तता साधना की अविकल्प एवं अविकार-भूमि है। चित्त को वास्तव में अचित्त ही कहा जा सकता है, क्योंकि अन्य सभी बौद्ध निकायों में उसे प्रकृत्या प्रभास्वर माना गया है। बोधिचित्त की अचित्तता एक ओर करुणा का उत्स है तो दूसरी ओर प्रज्ञा का। आगे चलकर इनका महाकरुणा और महाप्रज्ञा के रूप में विकास होता है। इनकी युगनद्धता (जोड़ी) से बुद्धत्व का विकास होता है। वास्तव में प्रज्ञापारमिता ही बुद्धत्व की जननी है, अर्थात् बुद्धत्व-प्रापक सभी धर्म प्रज्ञाभूमि पर ही उद्‌गत एवं विकसित होते हैं। महायान की प्रज्ञापारमिता प्राचीनतम अष्टांगिक मार्गों में प्रथम "सम्मादिट्ठि" का ही विशेष विकास है। इसी प्रकार प्राचीनतम शीलों का भी विनियोग एक विशेष लक्ष्य से महाकरुणा के रूप में हुआ। इसलिये प्रज्ञा की भूमि में करुणा से समन्वित होकर बौद्धयोगी महायान-साधना प्रारम्भ करता है। उसकी साधना की दुरूहता यह है कि वह कहीं भी चित्त के लिये स्थान नहीं बनाता। चित्त का स्थान या ग्राह्य बन भी नहीं सकता, क्योंकि उसकी

दृष्टि में किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है, जिसे वह ग्रहण करे या छोड़े। भगवान् बुद्ध ने "निमित्तं परिवज्जेहि" आदि वचनों से कहा था कि रागादि-मूलक निमित्तों को छोड़ना होगा। महायान के अनुसार उसका फलितार्थ यह है कि धर्ममात्र का परिग्रह नहीं होना चाहिये। वास्तव में महायान-साधना का आलम्बन निर्वाण या सर्वज्ञता भी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रज्ञा-पारमिता वह विशेष साक्षात्कार है, जिससे न तो पदार्थों की सत्ता सिद्ध होती है और न उनकी उपलब्धि। जैसे रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कारों की स्वाभाविक सत्ता नहीं है, वैसे ही चित्त में बैठी वस्तुओं के लक्षण भी लक्षण-स्वभाव नहीं हैं और न लक्ष्य लक्ष्य-स्वभाव हैं। वास्तव में प्रज्ञापारमिता का दर्शन यह है कि आन्तर-बाह्य सभी जीव-जगत् अजात एवं अनुत्पन्न हैं।

महाकरुणा एवं उपाय

इस अचित्तता के आधार पर करुणा से प्रेरित होकर साधक अपने चित्त की रक्षा करता है, उसे विगलित नहीं होने देता। शिक्षासमुच्चय में उद्धृत अनेक बुद्धवचनों के आधार शान्तिदेव कहते हैं—सत्त्वोपभोगार्थमात्मभावादि पालयेत्, (२।६) यह "आत्मभावरक्षा" आत्मत्याग की महायानी प्रक्रिया है। इसलिये बोधचित्त का प्रकर्ष उसकी अचित्तता में ही है। इस मार्ग का पथिक होने से बोधिसत्व की सारी चर्या अनिमित्त-चर्या या अनाभोग-चर्या हो जाती है। अचित्तता की भूमि पर चित्त की रक्षा के बिना लोककल्याण के लिये कोई महान् निर्माण नहीं किया जा सकता, सर्वजगत् का दुःखों से परि-त्राण करना तो दूर की बात होगी। परित्राण की चेतना मात्र साधना का लक्ष्य नहीं है, प्रत्युत उससे प्रेरित होकर परार्थ के लिये उपायकुशलता एवं अपरिमित संभार (सामग्री) जुटाना बोधिसत्व की करुणा का अपरिहार्य अंग है। करुणा-परवश साधक समस्त आर्त्तजगत को अपनी करुणा का आलम्बन बनाता है। यहाँ भी इस बात की ओर विशेष ध्यान देना होगा कि इस महापुरुष की करुणा की उत्पत्ति दुःखी सत्त्व के प्रति नहीं, बल्कि दुःख-सन्तान के प्रति होती है। इस प्रकार बोधिसत्व की करुणा अनालम्बन हो जाती है, क्योंकि प्रज्ञा के द्वारा उसकी आत्म-दृष्टि उन्मूलित रहती है। साधना की इस प्रकृष्ट अवस्था को प्राप्त करने के लिये साधक को दो प्रकार के संभारों को जुटाना होता है—(१) पुण्य-संभार, (२) ज्ञान-संभार। पुण्य-संभार से वह सांसारिक अभ्युदय तथा ज्ञान-संभार से अज्ञानावरणों का प्रहाण कर अक्लिष्ट हो संसरण करता है।

द्विविध सम्भार

पुण्य-संभार अकुशल कर्मों के प्रहाण एवं कुशल कर्मों के सम्पन्न करने से प्राप्त किया जाता है। इसके लिए सर्वप्रथम दृढ़ अध्यवसाय और दृढ़ आशय चाहिये। दृढ़ अध्यवसाय के द्वारा सब प्रकार के शैथिल्य का निवारण किया जाता है और उससे चित्त एवं काय इतना विशुद्ध एवं दृढ़ बनाया जाता है कि परार्थ-साधना में लोभमोहादि मारों से किसी भी प्रकार साधक प्रकम्पित न हो। इसी तरह आशय के दृढ़ीकरण से अभिप्राय है, परार्थ के लिये अकृत्रिम, अकुटिल एवं अविचलित निश्चय। इन सब के पीछे करुणा के वेग का ही महत्त्व है। महायानसूत्रों में कहा है कि चक्रवर्ती राजा के चलने पर उसके पीछे जैसे सेना एवं समस्त बलकाय प्रयाण कर देता है, वैसे ही बोधिसत्त्व की महाकरुणा के पीछे सभी बुद्धत्वप्रापक धर्म अनुगत हो जाते हैं। ज्ञान-संभार प्रज्ञा की असंगता एवं निःस्वभावता की दृष्टि है। इससे यथार्थता-अयथार्थता, कुशल-अकुशल का भेद-ज्ञान होता है। इसके बिना साधक ऐसे आवरणों से घिरा रहता है कि वह 'सर्व' का साक्षात्कार नहीं कर पाता, फलतः एक सीमा से आगे परार्थ-सिद्धि नहीं कर सकता। जगत के निरवशेष कल्याण के लिये अचित्तता की भूमि पर निःस्वभावता एवं नैरात्म्य का पूर्णज्ञान करना होगा। इस प्रकार के ज्ञान की परिपूर्णता से ही प्रज्ञापारमिता पूरी होती है। इस कोटि का ज्ञान-संभार ही प्रज्ञापारमिता है। प्रज्ञापारमिता छठी पारमिता है। इसी के प्रकाश में दान, शील, क्षान्ति, वीर्य एवं ध्यान, उत्तरोत्तर वृद्धिगत होते हैं और परिपूर्णता प्राप्त कर बुद्धत्व-लाभ के कारण बनते हैं। ये पांच पारमितायें पुण्य-संभार हैं, प्रज्ञापारमिता ज्ञान-संभार है। महायानसूत्रालंकार (पृ० १३६) के अनुसार दान और शील से केवल पुण्यसंभार; प्रज्ञा से ज्ञान-संभार; क्षान्ति, वीर्य और ध्यान से दोनों की उत्पत्ति होती है। किन्तु अन्त में सब का परिणमन प्रज्ञा में ही होता है, अतः पांचों पारमितायें प्रज्ञापारमिता ही हो जाती हैं। पंच पारमितायें प्रज्ञा के बिना अन्धी हैं, किन्तु तब तक प्रज्ञा उपनीत नहीं हो सकती, जब तक ये पारमितायें पूरी न हों। प्रज्ञा हेतु-फलात्मक दो प्रकार की है। हेतुभूत-प्रज्ञा श्रुत, चिन्ता और भावना के अभ्यास से सम्पन्न होती है। इसे भूमिप्रज्ञा भी कहते हैं। इसके अनन्तर उत्तरोत्तर भूमियों का प्रतिवेध करते हुये द्विविध आवरणों (क्लेशावरण-ज्ञेयावरणों) का प्रहाण किया जाता है। द्विविध आवरणों से प्रहीण बोधिसत्त्व चार अतिरिक्त पारमिताओं को भी

परिपूर्ण करता है। ये चार हैं—उपाय, प्रणिधान, बल और ज्ञान। प्रथम तीन से दानादि पारमिताओं की अक्षयता, सदातनता और प्रसंख्यानबलिता और चतुर्थ से ज्ञान-धर्मकाय की प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार पारमितायें १० हो जाती हैं।

आवरणक्षय

नैरात्म्य-बोध ही महायान-साधना की प्रकर्षता का मान-दण्ड है। इस साधक के उपर्युक्त क्लेश एवं ज्ञेय सम्बन्धी दो आवरण हैं। इन आवरणों का प्रहाण ही उसकी मूल समस्या है। चित्त की निम्नतम भूमियों में जो आवरण हैं, उन्हें ही हटाना पर्याप्त नहीं है, अपितु उत्कृष्टतम भूमि में जाकर निर्वाण भी बुद्धत्व-लाभ के मार्ग में बाधक बन जाता है। इस प्रकार बोधिसत्त्व को अविद्या और शम (निर्वाण) दोनों प्रकार के आवरणों को हटाना है। महायान के अनुसार क्लेशावरण प्रहीण करके पूर्ववर्त्ती स्थविरवादी आदि साधकगण साधना की इति-श्री मान लेते हैं, किन्तु वाह्य जगत के प्रति उनकी आत्मदृष्टि बनी ही रहती है, जिससे नैरात्म्य का पूर्ण अधिगम उन्हें नहीं हो पाता। ऐसे साधकों में अज्ञान की अक्लिष्ट वासना बनी रहती है, उसके प्रहाण के लिये धर्म-नैरात्म्य का अधिगम आवश्यक है। इन द्विविध नैरात्म्यों के साक्षात्कार के लिए ही पारमिता-साधना का उद्गम एवं विकास हुआ।

द्विविध नैरात्म्यों के आधार पर निरवशेष लोक के अपरिमित कल्याण के लिए एक ओर पारमिताओं की तथा दूसरी ओर दश-भूमियों की व्यवस्था की गई है। दशभूमियां हैं—१. प्रमुदिता, २. विमला, ३. प्रभाकरी, ४ अर्चिष्मती, ५. सुदुर्जया, ६. अभिमुखी, ७. दूरंगमा, ८. अचला, ९. साधुमती, १०. धर्ममेघा। इन दशविध भूमियों में दशविध पारमितायें पूर्ण हो जाती हैं। पारमितायें तथा भूमियां आवरणों की प्रतिपक्ष हैं। दशभूमिकसूत्र एवं मध्यान्तविभाग आदि ग्रन्थों में उन आवरणों तथा उनके नाश का सविस्तर वर्णन है। विशेषत: दशभूमिक सूत्र के आधार इन इन भूमियों का संक्षिप्त विवरण मिल जाता है।

दश भूमियाँ

बोधिचित्त-प्राप्त साधक द्वारा प्रथम **प्रमुदिता** भूमि में चूंकि परार्थ सिद्ध होना है और महाबोधि लाभ करना है, इससे उसमें तीव्र मोद उत्पन्न होता

है. इसी से इसका नाम 'मुदिता' है। यह साधक निर्भय होकर बोधिसत्व की परार्थ-चर्या में लग जाता है, क्योंकि क्लेश की मूलभूत इसकी आत्म-संज्ञा नष्ट हो चुकी है, अतः उसमें अपने प्रति किसी प्रकार की आसक्ति (आत्मस्नेह) नहीं रह गयी है। इसलिये आजीविका, निन्दा, मरण, दुर्गति एवं सभा-चातुरी आदि से सम्बन्धित भय इसे नहीं रहता। इस भूमि में यह दश प्रकार के प्रणिधान, दश प्रकार की निष्ठाओं, और दश प्रकार की निपुणताओं का अर्जन करता है।

द्वितीय 'विमला' भूमि में सभी प्रकार की दुःशीलता समाप्त हो जाती है और दश प्रकार के चित्ताशयों का प्रवर्तन होता है। ये दश हैं—ऋजुता, मृदुता, कर्मण्यता, दम, शम, कल्याण, अनासक्ति, अनपेक्षता, उदारता, माहात्म्य सम्बन्धी आशय। इस द्वितीय भूमि में प्रतिष्ठित बोधिसत्त्व दश कुशल कर्मपथों को सम्पन्न करता है। यह भूमि प्रधानतः शीलपारमिता की भूमि है।

तृतीय 'प्रभाकरी' भूमि में बोधिसत्त्व दशविध चित्ताशयों को उन्हें अपने-अपने विषयों में लगाता है, जिसे चित्ताशय मनस्कार कहते हैं। बोधिसत्त्व इन दशविध चित्ताशयों को लोक के समक्ष प्रस्तुत करता है और उन्हें इनसे समन्वित करता है। इसमें स्थित होकर वह सभी संस्कारों की अनित्यता, दुःखता, क्षणिकता आदि का प्रत्यवेक्षण कर तथागत-ज्ञान के लिये प्रयत्नशील हो जाता है। सभी प्राणियों को अनेकानेक दुःखों में मग्न देखकर उनके उद्धार के लिये अपने ही ऊपर सारा दायित्व लेता है और उसके लिये उपाय तैयार करता है। इस अवस्था में वह मैत्री करुणा, मुदिता और उपेक्षा का अपरिमित विस्तार करता है। इस भूमि में साधक को विविध प्रकार की ऋद्धियों और अभिज्ञाओं का लाभ होता है। इस भूमि में क्षान्तिपारमिता प्रधान रहती है।

चतुर्थ 'अर्चिष्मती' में भावी बोधिसत्त्व विशुद्ध धर्मालोक में प्रविष्ट होकर दश ज्ञान-परिपाचक धर्मों से संयुक्त होता है। इस भूमि में सत्काय दृष्टि से उत्पन्न आत्म, जीव, पुद्गल, स्कन्ध, धातु आयतनादि दृष्टियां समाप्त हो जाती हैं। इस अर्चिष्मती की ऊष्मा में अकुशल जल जाते हैं कुशलमूल सभी अराग अद्वेष, अमोह सुतप्त हो प्रभास्वर हो जाते हैं। इसी भूमि में सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों का उद्भव एवं विकास होता है। बोधिपाक्षिक धर्म हैं—४ स्मृत्युपस्थान (काय, वेदना, चित्त और धर्म) ४ सम्यक् प्रधान—जिससे अकुशल उत्पन्न नहीं होने पाते, वर्तमान अकुशलों का प्रहाण, अनुत्पन्न कुशलों

का उत्पादन, विद्यमान कुशलों का असंप्रमोष एवं वृद्धि, ४ ऋद्धिपाद ५ इन्द्रियां—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा; ५ प्रकार के बल—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा; ७ प्रकार के बोध्यंग—स्मृति, धर्म-प्रविचय, वीर्य, प्रीति, प्रस्रब्धि, समाधि और उपेक्षा; तथा ८ अष्टाङ्गिक मार्ग—दृष्टि, संकल्प, वाक्, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति और समाधि का सम्यक्त्व। यह वीर्यपारमिता प्रधान भूमि है।

पञ्चम 'दुर्जया' भूमि में चित्ताशय-विशुद्धिसमता अथवा चित्त-विशुद्धि कठिनाई से प्राप्त होती है, अतः उसे 'सुदुर्जया' कहते हैं। चित्ताशयसमता इसकी विशेषता है, जो दश प्रकार से सम्पन्न होती है। यहाँ आर्यसत्यों का तथा उसके सहायक अन्यान्य सत्यों का बोध होता है। इस भूमि में इस यथार्थता का बोध होता है कि जो कुछ उत्पन्न संस्कृत पदार्थ हैं वे तुच्छ एवं मृषा है। इसके फलस्वरूप बोधिसत्व से बड़े वेग से प्राणियों के प्रति महाकरुणा अभिमुख हो जाती है और साधक के जीवन में महामैत्री का आलोक फैल जाता है। यह ध्यानपारमिताकी भूमि है। यहाँ सामन्तक और मौल दोनों प्रकार के ध्यानों को पूर्ण हो जाना चाहिये। साधक जिस भूमि पर अवस्थित होता है उसके बाधक निम्न भूमि के क्लेशों का नाश 'सामन्तक' द्वारा होता है, उसके बाद उससे उन्नत भूमि में जो 'ध्यानाङ्ग' उत्पन्न होते उसे 'मौल' कहते हैं। मौल की पूर्णता ही ध्यान की पूर्णता है। ध्यान की दो भूमियाँ हैं—रूपभूमि और अरूपभूमि। ये ध्यान-लोक हैं। प्रथम द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ ध्यानों के क्रम से रूपी ध्यान चार होते हैं। इसी प्रकार अरूपी भी चार होते हैं—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन। ये सभी लौकिक समाधियाँ हैं। लोकोत्तर समाधि इससे अत्यन्त भिन्न है। यह निःस्वभावता या नैरात्म्य का आलम्बन करने वाली समाधि है।

षष्ठ 'अभिमुखी' भूमि प्रज्ञाभिमुखी होती हैं, वह संसार और निर्वाण दोनों को अभिमुख कर देती है। इस भूमि में आन्तर-बाह्य सभी धर्मों के प्रति दशविध समतायें प्रादुर्भूत होती हैं। वे दश हैं—अनिमित्त समता, अलक्षण समता, अनुत्पाद समता, अजात समता, विविक्त समता, आदिविशुद्धि समता, निष्प्रपञ्च समता, अनाव्यूहानिर्व्यूह समता, प्रतिबिम्बनिर्माण समता, भावाभावाद्वय समता। इस भूमि में बोधिसत्त्व द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद का परीक्षण करता है और सभी समुत्पन्न पदार्थों को त्रिविध दुःखताओं से ओत-प्रोत देखता है। त्रिविध दुःखतायें हैं—१. संस्कारदुःखता, २. दुःखदुःखता,

३, परिणामदुःखता। वह साधक जब प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रत्यवेक्षण करता है तो उससे निरात्मता, निःसत्त्वता, कारक-वेदक-राहित्य आदि का ज्ञान होता है। इससे उसके समक्ष 'शून्यताविमोक्षमुख' समाधि प्रस्तुत होती है। इस अवस्था में साधक के समक्ष प्रतीत्यसमुत्पाद-चक्र के परीक्षण से भवाङ्गों के स्वभाव-निरोध का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है, तब वह इस निश्चय पर पहुँचता है कि धर्मों की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। इस अवस्था में 'अनिमित्तविमोक्षमुख' समाधि प्रकट होती है। इस विशेष अवस्था में उस महाकारुणिक में प्राणियों के मनोरथ की पूर्ति के अतिरिक्त किसी प्रकार की अभिलाषा नहीं रह जाती। इस अभिमुखी बोधिसत्त्व-भूमि में स्थित साधक की प्रज्ञापारमिता पूर्ण हो जाती है।

सप्तम भूमि का 'दूरंगमा' नाम इसलिये है कि महायान, जो सभी प्राणियों के लिये एकायन-मार्ग है, उससे बोधिसत्त्व बहुत दूर तक साधना में पहुँच चुका है। इस भूमि में साधक एक प्रकार से बोधिसत्त्व-मार्ग पूर्ण कर बुद्ध-भूमि में प्रविष्ट होता है। इसलिये आगे वह एक विशेष प्रकार के मार्ग का आरम्भ करता है। यहाँ से महायान-साधना का और भी विशेष प्रकर्ष होता है। यहाँ पुनः इस उदारतम भूमि में वह सभी दानादि पारमिताओं को पूर्ण करता है। इस भूमि की विशेषता यह है कि यहाँ सभी धर्मों की अप्रमाण (असीम) उपस्थिति होती है और उससे अप्रमाण ही पूर्ति भी होती है; क्योंकि यहां साधक के सारे निमित्त एवं आलम्बन अपगत हो गये रहते हैं। षष्ठ भूमि में बोधिसत्त्व क्लेश-निरोध प्राप्त कर चुका है, किन्तु सातवीं भूमि में वह निरोध का साक्षात्कार नहीं करता। वस्तुतः प्रत्येक चित्तक्षण में वह निरोध एवं व्युत्थान देखता है। इस स्थिति में जो भी कायिक, वाचिक एवं मानस कर्म करता है, वह अपरिमित एवं अचिन्त्य होता है। यह भूमि अपरिमित सत्त्वों के अपरिमित अर्थों की सिद्धि के लिये उपाय-कुशलता की भूमि है। इसीलिये उपायकौशल्य-पारमिता इसमें प्रधान होती है।

अष्टम भूमि 'अचला' में प्रणिधान-पारमिता पूरी की जाती है। स्मरणीय है कि साधक साधना के प्रारम्भ में ही परार्थ का प्रणिधान कर चुका है, जिसे 'बोधिप्रणिधि चित्त' कहते हैं। साधना की इस उच्चतम भूमि पर आकर पुनः प्रणिधान लेना इसलिये पड़ता है कि बोधिसत्त्व कहीं निर्वाण में आसक्त न हो जाय, जिससे उसके द्वारा सम्पादित होने वाला जगत् का महार्थ-कृत्य रुक न जाय। यहाँ अन्य बोधिसत्त्व-गण एक ओर साधक को पूर्व गृहीत

प्रणिधान का स्मरण कराते हैं और दूसरी ओर जगत् की दुःखार्त्तिता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। फलतः बोधिसत्त्व-साधक परार्थ के लिये पुनः महा-प्रणिधान लेता है। इस भूमि की यह विशेषता है कि साधक इस अवस्था से पुनः निम्न भूमि पर नहीं जा सकता, इसी अर्थ में यह 'अचला' है। यह इस अर्थ में परिनिष्पन्न-भूमि है कि साधना द्वारा एक बार निर्मित कर लेने पर निष्पन्न ही रहती है। इस भूमि को परिनिष्ठित, अधिष्ठान, अनाभोग आदि नामों से भी कहा जाता है। इस भूमि में प्रवेश करते ही साधक को सभी अपेक्षित साधन प्राप्त होने लगते हैं। विगत सात भूमियों में साधक ने प्रयत्न पूर्वक उत्तरोत्तर गुणों का लाभ किया है किन्तु यहाँ उसके काय, वाक् और चित्त के औत्सुक्य एवं प्रयत्नों का कोई कारण नहीं रहता। जैसे स्वप्न में कोई अपने को महानदी में पड़ा जानकर उसे पार करने के लिये महान् प्रयत्न करे, और उसी तीव्र प्रयत्न से उसकी नींद टूट जाय और जग जाय, तब उसका सारा प्रयत्न एवं भय दूर हो जाता है और निश्चय करता है कि किसी प्रकार के प्रयास की आवश्यकता नहीं है उसी प्रकार बोधिसत्त्व प्राणियों के उद्धार का संकल्प लेकर अनेकानेक प्रयास आरम्भ कर देते हैं, किन्तु इस भूमि में आते ही अनुभव करते हैं कि उस प्रकार के प्रयास अनावश्यक हैं। इस प्रकार यह भूमि अनाभोग-धर्मता की भूमि हो जाती है। इस भूमि में ही बोधिसत्त्व दश बल एवं चतुर्वैशारद्यों से मण्डित होते हैं।

'साधुमती' नवमी भूमि है। इसमें बोधिसत्त्व कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत धर्मों का यथाभूत साक्षात्कार करते हैं। इस स्थिति में वह सत्त्वों के अन्तर्वर्त्ती क्लेशों को देखते हैं और उसके उपचार को भी यथावत् जानते हैं। यहाँ सत्त्वों की विभिन्न चर्याओं एवं आशयों को जानकर यथानुरूप श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्व की देशनायें करते हैं। यह तथागतत्व धर्म के रक्षक हैं और प्राणियों में धर्मश्रावक के रूप में प्रचार करते हैं। इस अवस्था में बोधिसत्त्व चार प्रकार के प्रतिसंविदों को भी प्राप्त करते हैं—धर्मप्रतिसंवित्, अर्थप्रतिसंवित्, निरुक्तिप्रतिसंवित् तथा प्रतिभानप्रतिसंवित्। इन चारों से क्रमशः धर्मों की स्वलक्षणता (असाधारणता), उनका विभाजन, देशना तथा अतीतानागत धर्मों के अनुप्रबन्ध एवं अनुपच्छेद का ज्ञान होता है। इन प्रतिसंविदाओं से बोधिसत्त्व धर्मों का अनेकानेक यथार्थ दृष्टियों से साक्षात्कार करते हैं। इस भूमि में बोधिसत्त्व को अप्रमेय बुद्धों की देशना सुनने को मिलती है। स्वयं भी अनेकानेक आश्चर्यंकर प्रकारों से धर्म की देशना करते हैं।

धर्ममेघ' दशमी एवं अन्तिम भूमि है। इसे बुद्ध-भूमि भी कहते हैं। इस भूमि में बोधिसत्त्व पुण्य और ज्ञान संभार एवं महाकरुणा को पूर्ण कर चुके हैं, दश बल एवं वैशाद्यादि से मण्डित हैं। यहाँ बोधिसत्त्व सर्वाकारज्ञता एवं सर्वज्ञता के ज्ञानों से अभिषिक्त होते हैं। इस अभिषेक-भूमि में वह विमल आदि मुख्य दश समाधियों का लाभ करते हैं। उस समय 'महारत्नराज' पद्म प्रादुर्भूत होता है और उस पर बोधिसत्त्व 'सर्वज्ञ-ज्ञानाभिषेक' से अभिषिक्त हो निषण्ण होते हैं। उस महारत्नपद्म के परिवारभूत और जितने पद्म उद्गत होते हैं, उन पर दश दिशाओं से आये हुए बोधिसत्त्व अब तक के साधक-बोधिसत्त्व को घेर कर बैठते हैं। इसके बाद इस बोधिसत्त्व-मण्डल या बुद्ध क्षेत्र का विकास होता जाता है। इस अभिषेक भूमि के जितने बोधिसत्त्व होते हैं, उनके कायों के श्रीवत्स और वज्र-स्वस्तिकों से 'सर्वमार-शत्रु-विजय' नाम की महारश्मियाँ निकलती हैं और दश दिशाओं को प्रतिभासित करके पुनः बोधिसत्त्व के श्रीवत्स और वज्र-स्वस्तिक में लीन हो जातीं हैं। बोधिसत्त्वों की इन रश्मिओं से साधक-बोधिसत्त्व का अभिषेक होता है। इसी अवस्था को सम्यक्-सम्बुद्धत्व का अभिषेक कहा जाता है। इसमें दश बल पूर्ण होते हैं। यह जिन-पुत्र महाज्ञान से अभिषिक्त होकर धर्म-चक्रवर्ती हो जाता है और सैकड़ों हजारों उद्योग करके प्राणियों का उद्धार करता है। इस अवस्था में अपरिमित प्राणियों पर यह महापुरुष मेघ के समान धर्म का वर्षण करता है। इसलिये इसे 'धर्ममेघ समाधि' में प्रतिष्ठित कहा जाता है। बोधिसत्त्व स्वकाय में तथागत-काय को अधिष्ठित करता है और तथागत-काय में स्वकाय को। इस भूमि में अपरिमित सर्वज्ञ-ज्ञान होता है, इसलिये यह ज्ञानपारमिता की भूमि है।

अब यहाँ थोड़े में महायान-साधना के निष्कृष्ट फल के रूप में त्रिकाय व्यवस्था का दिग्दर्शन करें। प्रारम्भ में कहा गया है कि महायान-साधना अचित्तता की भूमि पर खड़ी है। चित्तमलों को अपगत करना अचित्तता के लिये आवश्यक है। इसके लिये बोधिचित्त के ग्रहण से साधना का सम्भार-मार्ग प्रारम्भ होता है और विभिन्न समाधियों द्वारा चित्तगत निःस्वभावता का आकलन करने लगता है। उसके बाद प्रयोग-मार्ग के उत्तरोत्तर चार अवस्थाओं (ऊष्मगत, मूर्धन क्षान्ति एवं अग्रधर्म) को विकसित करता है। इससे शून्यता एवं अचित्तता का अधिक स्पष्ट ज्ञान होने लगता है; क्योंकि द्वैत-भाव नहीं रहता और इस अवस्था से पुनः च्युत होने की संभावना भी समाप्त रहती है। इसके अनन्तर दर्शन-मार्ग प्रारम्भ होता है, यहां

निःस्वभावता का प्रत्यक्षतः ज्ञान होने लगता है। क्योंकि यहां साधक के क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण प्रहीण होते हैं। इसके अनन्तर भावना-मार्ग प्रारम्भ होता है। उपर्युक्त दश भूमियां भावना-मार्ग हैं। इसमें उभय आवरणों के बीज भी अत्यन्ततः नष्ट हो जाते हैं। इनके नष्ट होने के साथ ही साधक सम्यक् संबुद्धत्व प्राप्त करता है।

त्रिकाय-व्यवस्था

अपरिमित सत्वों की निरन्तर अर्थ-क्रिया सम्पादन ही बुद्धत्व है। बुद्धत्व के द्वारा सत्त्रों के सन्तर्पण का माध्यम है—बुद्धकाय। अचित्तता एवं शून्यता की भूमि पर ही इस काय की उत्पत्ति होती है! उपर्युक्त ६ वीं १० वीं भूमि तक साधक के क्लेश एवं ज्ञेय आवरणों के सूक्ष्मतम लेश भी विनष्ट हो चुके है, उसे दो सत्यों—संवृति एवं परमार्थ का पूर्ण ज्ञान है, उसमें सत्वों के हित-परिपाक के लिये अपेक्षित १० बल, ४ वैशारद्य आदि तथा १८ आवेणिक धर्म (जो केवल बुद्धों में ही उद्‌गत होते हैं) परिपूर्ण हैं। काय से अभिप्राय राशि या समूह से है। यहां शून्यता और विभिन्न गुणों से मण्डित सांवृतिक चित्त ही 'काय' शब्द से कहा गया है। बुद्धकाय वास्तव में एक सुविशुद्ध धर्म-काय मात्र है, किन्तु सत्त्वार्थ की सिद्धि के लिये कार्य-भेद से उसका तीन या चार भेद किया जाता है। तीन हैं—१. स्वभावकाय, २. सम्भोगकाय और ३. निर्माणकाय। **स्वभावकाय**—वह अकृत्रिम एवं परमार्थभूत विशुद्ध धर्मों का समूह है, जो सब मलों से अपगत एवं पूर्व धर्मों से परावृत्त है, वह नित्य विशुद्ध काय है। इन विशुद्धतम धर्मों के आश्रयभूत ज्ञान को एक अतिरिक्त काय के रूप में 'ज्ञान धर्मकाय' कहा जाता है, जिससे कायों की चार संख्या हो जाती है। वास्तव में प्रज्ञापारमिता जो सम्पूर्ण महायान-साधना का आधारभूत ज्ञान है, वही यह 'ज्ञान धर्मकाय' है। ये दोनों काय वास्तव में एक ही हैं। फल की दृष्टि से ज्ञान का तीन स्थूल विभाग किया जाता है—(१) सर्वाकारज्ञता, (२) मार्गज्ञता और (३) सर्वज्ञता! महायान की दृष्टि में सर्वज्ञता एवं मार्गज्ञता के अनन्तर ही सर्वाकारज्ञता पूर्ण होती है। बोधिसत्त्व को प्रथम बोधिचित्तोत्पाद से लेकर सर्वाकारज्ञता तक अधिगम करना होता है। इस त्रिसर्वज्ञता का आधारभूत प्रतिनिधि 'ज्ञान धर्मकाय' है। ज्ञानधर्मकाय सहित स्वभावकाय की एक संज्ञा 'धर्मकाय' है। बोधिसत्त्व को इसका साक्षात्कार (साक्षात् अनुभव) अभिसमय के एक क्षण की सम्बोधि के अनन्तर होता है।

सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय पूर्ण रूप से सांवृतिक हैं, प्रयोजनवश वे अनेक और अनन्त हो सकते हैं। बुद्ध सम्भोगकाय के द्वारा देवमण्डलों में धर्म-संभोग करते हैं वहां देशना आदि भी करते हैं और इहलोकों में निर्माणकाय द्वारा सत्त्वार्थ-क्रिया करते हैं। इन दोनों का स्पष्ट भेद यह है कि प्रथम स्वार्थ-लक्षण है, दूसरा परार्थलक्षण। अन्ततः देखा जाय तो वह धर्म-संभोग भी परार्थ में ही विनियुक्त होता है। पहले सातवीं भूमि के सम्बन्ध में कहा गया है कि बोधिसत्व सत्त्वार्थ के लिये पुनः उत्कट प्रणिधान लेते हैं और आठवीं-नवीं भूमियों में क्षेत्र-विशुद्धि करते हैं। क्षेत्र-विशुद्धि के द्वारा वह अपना कार्य-क्षेत्र तैयार करते हैं, जिसे बोधिसत्त्वों का क्षेत्र या मण्डल कहा जाता है। सम्भोगकाय भी कुछ उत्कृष्ट धर्मों का ही सम्पुञ्जित रूप है, इसके पांच विनियत धर्म होते हैं, इनसे बोधिसत्व का स्थान, विनेय, काय, धर्म और काल निश्चित रहते हैं। निर्माणकाय के रूप में गौतम बुद्ध आदि थे जिन्हें गयाशीर्ष में बोधि-लाभ हुआ, सारनाथ आदि स्थानों में जिनके द्वारा धर्मचक्र प्रवर्त्तन हुआ।

बोधिसत्त्व बुद्धत्व प्राप्तकर इन त्रिविध कायों द्वारा बुद्ध-कृत्य करते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि बुद्ध के ये सारे कर्म 'निराभोग' एवं 'निरन्तर' होते रहते हैं, यही अचित्तता के आधार पर महायान साधना का आदर्श है। इसी परमार्थ-भूमि पर आगे चलकर वज्रयान आदि का विकास हुआ, जो बहुत गम्भीर किन्तु महत्त्वपूर्ण है।

—जगन्नाथ उपाध्याय

बौद्ध तान्त्रिक साधना

तन्त्रयान का उद्गम :—

यह तो स्पष्ट है कि तान्त्रिक विद्या का उद्भव बहुत पहले ही हो चुका था। यह भी माना जाता है कि बौद्ध तान्त्रिक देशना भगवान् शाक्यमुनि ने स्वयं दी है। बौद्ध तान्त्रिक परम्पराओं के अनुसार शाक्य मुनि ने 'श्री धान्य कूट (धान्य कटक) नामक स्थान में अनुत्तर–तन्त्रनय का तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तन किया था। यह स्थान दक्षिण भारत में अमरावती के निकट अवस्थित है। तान्त्रिक इतिहास में यह स्थान अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'श्री पर्वत' तथा 'मलय' पर्वत आदि का भी तन्त्रों में बहुधा उल्लेख मिलता है जिनमें कुछ छोटे मोटे तन्त्रों की देशना हुयी थी। 'मलय पर्वत' सिलोन में 'सुमन कूट' नाम से प्रसिद्ध है। 'विमल प्रभा' (श्री काल चक्र तन्त्र की टीका) आदि प्रामाणिक शास्त्रों केअनुसार तृतीय तान्त्रिक धर्म चक्र प्रवर्तन बुद्ध ने परिनिर्वाण के एक वर्ष पहले किया था। अन्य विद्वान् द्वितीय तथा तृतीय धर्मचक्र-प्रवर्तन एक साथ मानते हैं। प्रथम धर्म चक्र प्रवर्तन सर्व प्रसिद्ध है। द्वितीय तथा तृतीय (तान्त्रिक) धर्मचक्र प्रवर्तन बहुत प्रसिद्ध नहीं हैं, फिर भी इनकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया सकता। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त तान्त्रिक इतिवृत्ता सर्वसाधारण लोगों में अप्रसिद्ध होने पर भी अप्रामाणिक नहीं है।

इस प्रकार बौद्ध तान्त्रिक विचारधारा अति प्राचीन काल से ही प्रचलित है। 'तन्त्रनय' या तान्त्रिक विज्ञान अत्यन्त गम्भीर एवं विशिष्ट है। उच्च कोटि के अधिकार प्राप्त न हो जाने तक इसमें प्रवेश नहीं होता। उसकी तीव्र शक्तिमत्ता के कारण दुरुपयोग की आशंका से आचार्य तान्त्रिक साधना को जनसाधारण के लिए या उसके समक्ष प्रकाशित नहीं करते थे। गुप्त भाव से ही इसका अनुष्ठान होता था। इस लिए तान्त्रिक इतिवृत्तों की प्रसिद्धि सर्वसाधारण रूप से नहीं हो सकी।

साधारणतया यह कहा जाता है कि तान्त्रिक परम्परा भगवान बुद्ध से ही प्रचलित है। बाद का परम्पराप्रवाह सुचन्द्र, इन्द्रभूति[१] आदि आचार्यों के माध्यम से, जिन्होंने बुद्ध से साक्षात् उपदेश सुने थे, आदि से लेकर आज

नोट—(१) यह इन्द्रभूति प्रथम इन्द्रभूति है, यों तो बहुत इन्द्रभूति हुए हैं।

तक अविरल रूप से चली आ रहा है। परन्तु तान्त्रिक विकासक्रम के स्रोतों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि सुव्यवस्थित तान्त्रिक मतों का उद्भव ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के आसपास में ही हुआ था। यह तो निर्विवाद है कि आचार्य 'राहुल भद्र' एक विख्यात तान्त्रिक सिद्ध थे। राहुल भद्र नागार्जुन के पूर्ववर्ती आचार्य हैं। उनके जीवन के अन्तिम चरणों में नागार्जुन उनके शिष्य बने। कहने का तात्पर्य है कि आचार्य 'राहुल भद्र' के समय में 'गुह्य समाज' आदितन्त्र का अस्तित्व विद्यमान था। मैत्रेयनाथ के समय भी इन तन्त्रों का आभास मिलता है। बाद में आर्य नागार्जुन ने इन तन्त्रों पर बहुत से भाष्य भी लिखे थे। नागार्जुन से लेकर लगभग तीन चार सौ वर्षों तक तान्त्रिक साधना-अनुष्ठानों का विधि-विधान आंशिक रूप से गुप्त ही रहा। धर्मकीर्ति के युग से तथा विशेषकर पाल नरेशों के युग से तान्त्रिक साधना की परम्मपरा बहुत प्रसिद्ध हो गई।

तन्त्र का स्वरूप एवं भेद :—

स्वरूप—साधारणतः 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग बहुत से अर्थों में होता है। शब्द शास्त्र के अनुसार 'तन्त्रि—कुटुम्बधारणे' धातु से निष्पन्न यह शब्द कुटुम्ब धारणार्थक है। 'चान्द्र' के अनुसार यह केवल धारणार्थक है (धारयते-कुटुम्बयते)। परन्तु मन्त्रनय के लिए प्रयुक्त 'तन्त्र' शब्द का अर्थ 'प्रबन्ध' है। तान्त्रिक व्युत्पत्ति के अनुसार इसका प्रयोग तीन प्रकार से होता है। जैसे कहा गया है कि—

"प्रबन्धं तन्त्रमाख्यातं तत् प्रबन्धं त्रिधा भवेत्"—इत्यादि।

योगी के स्कन्धों की प्रवहमान सन्तति, जो मार्ग आदि की प्रक्रियाओं की प्रवृत्ति या अवतारणा का आधार है, को 'तन्त्र' कहते हैं। मार्ग आदि प्रतिपद्-उपायों तथा अभिनिर्हार्य अर्थात् साध्य-फल (अनाभोगिक बज्रपद) को भी तान्त्रिक शब्दावलि में 'तन्त्र' ही कहा जाता है। जैसे गुह्यसमाज तन्त्र के अठ्ठारहवें पटल में कहा गया है—

"आधारः प्रकृतिश्चैव असंहार्यप्रभेदतः ॥
प्रकृतिश्चाकृतेर्हेतुरसंहार्यफलं तथा।
आधारस्तदुपायश्च त्रिभिस्तन्त्रार्थसंग्रहः" ॥

इस प्रकार अभिधेय की दृष्टि से तन्त्र के मुख्य तीन भेद हैं। अभिधान की दृष्टि से उपर्युक्त विषयों का प्रतिपादन करने वाले सभी शास्त्र तन्त्र हैं।

यहां विषयी के लिये विषय का नाम उपचरित होता है। प्रसङ्गवश यहां तन्त्रयान के बारे में दो शब्द प्रस्तुत करना आवश्यक है—

तन्त्रयान—तन्त्रयान महायान के अन्तर्गत एक यान है। जैसे अद्वयवज्र-सिद्धि में कहा गया है—

"महायानं च द्विविधं पारमितायानं मन्त्रयानञ्चेति"

'तन्त्र' की व्युत्पत्ति ऊपर की जा चुकी है। 'यान' से तात्पर्य सिद्धान्त या मार्ग है। तान्त्रिक मार्ग का दूसरा नाम 'तन्त्रयान' है। इसे मन्त्रयान भी कहा जाता है। वास्तव में मन्त्रयान, वज्रयान, तन्त्रयान, उपाययान आदि सब पर्यायवाची है। इसका विस्तृत विवेदन आचार्य श्रद्धाकरवर्मने किया है। इनके 'अनुत्तर योगावतार' नामक ग्रन्थ में भी इन सब नामों का पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया गया है। अन्यत्र इसे 'फलयान' भी कहते हैं। इसका संकेत 'गुह्यनिर्वचन तन्त्र' में भी मिलता है। 'वज्रसत्त्व समाधि' तन्त्रयान का प्रधान विषय है। इसलिये इसे वज्रयान भी कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'मन्त्रयोग' भी है। मन्त्रयोग की चर्चा आगे की जायेगी।

साधना की दृष्टि से तन्त्रों का भेद—

यह तो सर्वविदित है कि तन्त्रों का भेद बहुत अधिक है। किन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुसार मुख्यतया इनके चार भेद है—क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर योग। यद्यपि कुछ परम्पराओं में महायोग, अनुयोग और अतियोगतन्त्र आदि का व्यवहार होता है, पर वे सब उपर्युक्त चार के अन्तर्गत अन्तर्भूत हो जाते हैं। सभी तन्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्यविषय कोई विशेष साधना ही होती है। 'मन्त्र योग' सभी तन्त्रों का समान विषय है। विभिन्न तन्त्रों में इसका स्वरूप एवं क्रियाविधि भिन्न रूप से ही पायी जाती है। सामान्यतः तान्त्रिक शब्दावलि में 'मंत्र' का अर्थ बहुत व्यापक है। यहाँ 'मन्त्र' शब्द. 'मत्रि-गुप्तभाषणे' के अर्थ में नहीं प्रतीत होता। अतः यह शब्द 'मत्रि' धातु से 'इदितो नुम् धातोः' सूत्र द्वारा निष्पादित नहीं है। यह 'मन' एवं 'त्राण' इन दो शब्दों का संयुक्त रूप है। 'मन' से अभिप्राय ज्ञान या गति है। 'त्राण' का तात्पर्य प्रतिपालन, रक्षण या करुणा है। जैसे गुह्यसमाजतन्त्र में कहा है—

"प्रतीत्योत्पद्यते यद्यदिन्द्रियैर्विषयैर्मनः।
तन्मनो मननं ख्यातं कारकत्राणनार्थतः॥
लोकाचारविनिर्मुक्तं यदुक्तं समयसंवरम्।
पालनं सर्ववज्रैस्तु मन्त्रचर्येति कथ्यते॥

इस प्रकार के मन्त्र मार्ग को मन्त्रयान या मन्त्रनय कहते हैं। इसके प्रतिपादक ग्रन्थ भी मन्त्रनय में गृहीत होते हैं। मन्त्रनय विषयक शास्त्र विद्याधरपिटक भी कहा जाता है। कुछ विद्वान् मन्त्रनय और वज्रयान आदि को मूलतः भिन्न मानकर कुछ मनोरंजनात्मक व्याख्या करते हैं। वास्तव में ये भिन्न नहीं है। इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

'मन्त्र' शब्द की चर्चा की जा चुकी है। 'मन्त्रयोग' में प्रयुक्त 'योग' शब्द भी साधारण योग अर्थक नहीं है; जैसे 'योगः समाधिः' (पतञ्जलियोग शास्त्र) या जैसे बौद्धों के अन्य शास्त्रों में कहा गया है 'योगः एकाग्रता' इत्यादि। यहाँ योग से अभिप्राय है, सर्वविभुशून्यता का ज्ञान एवं अपरिवर्तनीय महाकरुणा का 'समायोग' जिसके आधार पर योगी को सभी प्रकार के तान्त्रिक रहस्यों का अधिगम होता है। उपर्युक्त अपरिवर्तनीय करुणा का अभिप्राय सहजानन्द से है। अतः यहाँ योग से तात्पर्य विशेषसमापत्ति है। जैसे कहा गया है—

"प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते"

(गुह्यतन्त्रे)

इस प्रकारके मन्त्रनय या तान्त्रिक साधनाओं का मुख्य भेद निम्न प्रकार से है।

क्रिया—क्रियातन्त्र किसी एक तन्त्रविशेप का नाम नहीं है। इसमें अनेक प्रकार के तन्त्र संगृहीत हैं। इनमें संसिद्धि, सुबाहुपरिपृच्छा, ध्यानोत्तर तथा गुह्यसामान्यतन्त्र आदि प्रमुख हैं। ये सब मूलतन्त्र है। गुह्यसामान्य तन्त्र में 'क्रियातन्त्र' के तीन हजार आठ सौ भद बताये गये हैं। इसका 'क्रिया' नाम प्रतिपाद्य साधना की दृष्टि से पड़ गया है। 'क्रिया' से तात्पर्य है कर्मप्रधान योग या साधना। इस साधनाप्रणाली में आन्तरिक ध्यान भावना की अपेक्षा बाह्य शारीरिक क्रिया पूजा, उपासना आदि की प्रधानता रहती है। इसे साधना शब्दावलि में 'कर्मयोग' भी कहते हैं। कर्मयोग का अर्थ कर्म करना मात्र नहीं है। इसका अर्थ 'सनैमित्तिक' योग से अनुप्राणित कर्म है; अर्थात् भावना (संस्थान योग) के माध्यम से किया जानेवाला कर्म है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में 'सनैर्मित्तिक' और 'अनैमित्तिक' योग का भी विधान है। इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

इसमें और भी बहुत से तन्त्र ऐसे हैं जो धारणी के नाम से जाने जाते हैं। धारणियों का उल्लेख प्राचीन त्रिपिटकों में भी यदा कदा मिलता है। द्वितीय संगीति के अवसर पर संगृहीत किये गये त्रिपिटकों में भी इसकी चर्चा

है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय भी धारणियों का उपयोग होता था। पालि त्रिपिटक में निहित 'परित्राण सूत्र' धारणी का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है।

धारणीसम्बन्धी साधना में प्रत्येक विद्याओं के मन्त्रों की प्रयोगविधि दिखलाई गई है। इनमें 'सरस्वतीसाधनाविधि' आदि अनेक विद्याओं की साधना-विधि निहित हैं। धारणीसम्बन्धी सभी तन्त्र 'क्रियातन्त्र' के अन्तर्गत आते हैं।

चर्यातन्त्र—चर्यातन्त्र का मुख्य विषय समाधि है, इसमें समाधिचर्या की प्रधानता रहती है। इसलिए इसे चर्या कहा गया है। इसकी 'पंचाभिसंबोधि' नामक समाधि या योग बहुत प्रसिद्ध है। इसका विस्तृत विवेचन वैरोचन-अभिसम्बोधि नामक ग्रन्थ में पाया जाता है। पंच-अभिसंबोधि का विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। इसका सारभूत तत्त्व 'सनैमित्तिक' एवं 'अनैमित्तिक' योग है। सनैमित्तिक साधनायोग में स्वयं दिव्य तनु (शरीर) के रूप में समुत्थित होकर अद्वैतभावनापूर्वक करुणासहचरित उपासना या समाधि लगाना होता है। अनैमित्तिक योग में करुणासहचरित शून्यता की भावना की जाती है। सामान्यत: सभी साधना प्रक्रियाओं में करुणा से संवलित होना या अनुप्राणित होना अत्यावश्यक है।

इस तन्त्र के बहुत से मूलग्रन्थ दीर्घकाल से ही लुप्त हो चुके हैं। इनके भाषान्तरों में अनुवाद भी बहुत कम है। इसके विद्यमान तन्त्रों में से 'वैरोचन-अभिसंबोधि' सबसे प्रधान है। इसमें २६ अध्याय हैं। इसका उत्तरतन्त्र नामक और एक तन्त्र है जिसके ७० अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त 'वज्रपाणि अभिषेकतन्त्र' भी बहुत प्रसिद्ध है।

योगतन्त्र—

योगतन्त्र का प्रतिपाद्य विषय सामान्यरूप से पूर्ववत् है। विशेषत: इसमें चार 'महामुद्राओं की व्याख्या की गई है। महामुद्रानामक योग इस प्रकार है—महामुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा और कर्ममुद्रा। साधक का साधारण शरीर उसकी साधना का मूलाधार है। आधारभूत उस शरीर के स्थान पर अपने इष्टदेव के सरूप एक 'दिव्यतनु' को प्रतिष्ठित किया जाता है। इसी की भावना की जाती है। इस भावना के पराकाष्ठा प्राप्त होने पर तदनुरूप दिव्य तनु की अभिव्यक्ति होती है, इसे 'महामुद्रा' कहते हैं। मन्त्रों के सहोच्चारण की साक्षाद् अभिव्यक्ति 'धर्ममुद्रा' है। समाधि भावना आदि से उपलब्ध

प्रश्रब्धि से जनित सुखादि से संप्रयुक्त शून्यता का साक्षाद् अधिगम 'समयमुद्रा' है। अनाभोगिक रूप से सभी प्रकार के कार्यों का सम्पादन 'कर्ममुद्रा' है। इन मुद्राओं के सम्बन्ध में सूक्ष्म विवेचन करना आवश्यक नहीं है। इन साधनाओं के मूलभूत तन्त्र निम्नांकित हैं—

'तत्त्वसंग्रह' नामक तन्त्र योगतन्त्र का मूलभूत ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त वज्रधातु, त्रिधातुविजेता, जगद्दमन और वज्रशिखर आदि प्रसिद्ध हैं। 'वज्र-शिखर' वास्तव में मूलतन्त्र का उपबृंहण है। इसके बहुत से तन्त्र विलुप्त हैं। आज जो थोड़े बहुत उपलब्ध हैं, वे भी केवल अनुवाद के रूप में ही हैं।

उपर्युक्त तीनों तन्त्रों की परम्परा में बहुत से आचार्य हुए हैं। उनमें से आचार्य शाक्यमित्र, गुह्यबुद्ध और आनन्दगर्भ प्रधान हैं। इन्होंने तत्त्वसंग्रह वज्रशिखर आदि पर अनेक भाष्य एवं व्याख्याएँ लिखी हैं और इन तन्त्रों के आधार पर साधनामाला आदि अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। इन आचार्यों का काल अनिश्चित है। शाक्यमित्र नागार्जुन के साक्षात् शिष्य थे। गुह्यबुद्ध पञ्चम या छठी शताब्दी के आसपास के हैं। पालयुग से इनका सम्बन्ध अवश्य है। कुछ लोग इन्हें प्रज्ञाकर गुप्त के समकालीन मानते हैं (तारानाथ)।

अनुत्तरतन्त्र—

सामान्यतः अनुत्तर तन्त्र उसे कहते हैं, जिसके द्वारा अनुत्तरयोग का प्रतिपादन होता है। अनुत्तरयोग का तात्पर्य वज्रसत्त्व समाधि से है। 'वज्रसत्त्व समाधि' एक समाधि विशेष का नाम है। विभिन्न तन्त्रों में यह विभिन्न नाम से जानी जाती है, जैसे—वज्रयोग, मन्त्रयोग, अनुत्तरयोग इत्यादि। साधना-प्रक्रिया की दृष्टि से अनुत्तर तन्त्र के दो भेद हैं—मातृतन्त्र एवं पितृतन्त्र। गुह्यसमाज, शूरमञ्जुश्रीतन्त्र आदि पितृतन्त्र है। हेवज्र, चक्रसंवर, कालचक्र आदि मातृतन्त्र है। इन तन्त्रों में साधना की विविध विधियाँ दिखलाई गई हैं। वे सब सक्षेप में चार भागों में विभक्त की गयी हैं—विशुद्ध-योग, धर्मयोग, मन्त्रयोग और संस्थानयोग। इन्हें वज्रयोग भी कहते हैं। प्रत्येक वज्रयोग से एक एक प्रकार की शक्ति या सामर्थ्य की प्राप्ति होती हैं। इसके पूर्ण विकास या प्रकर्ष से वज्रभाव का उदय होता है। स्थूल दृष्टि से साधक की सत्ता चार भागों में विभक्त की जाती है—काय, वाक्, चित्त और क्रिया। क्रिया से तात्पर्य है प्रवृत्तिविज्ञान। प्रथम वज्रयोग से 'काय-वज्रभाव' का उदय होता है। इस प्रकार वाक्, चित्त आदि में भी

समझना चाहिये। ये चारों वज्रभाव समष्टि अथवा एक ही सन्तति में परस्पर संपृक्त रूप से रहते हैं।

योगों का स्वरूप—

प्रथम वज्रयोग का नाम विशुद्धयोग है। करुणा का लक्षण ज्ञान-वज्र है (विशेष तान्त्रिक शब्दावलि में)। इसी का नामान्तर सहजकाय है, जो प्रज्ञा एवं उपाय की साम्यावस्था है। इसी का दूसरा नाम 'विशुद्धयोग' है। द्वितीय है 'धर्मयोग'। धर्मयोग का तात्पर्य चित्तवज्र से है, जो चित्त की धर्मता एवं प्रज्ञा की अद्वैत अवस्था है। इसी की अन्तिम परिणति ज्ञानकाय के रूप में होती है। तृतीय है 'मन्त्रयोग', यह मन्त्रयोग उपर्युक्त मन्त्रयोग से भिन्न है। यहां मन्त्रयोग का अभिप्राय वाग्वज्र से है। इसका अन्तिम फल सम्भोग-काय है। चतुर्थ 'संस्थानयोग' को कमल-नयन भी कहते हैं। यह प्रज्ञोपाय की साम्यावस्था या सामरस्य स्वरूप एक विशेष संस्थान है। इसी का प्राधिगम या साक्षात् अधिगम संस्थानयोग है। इन सब योगों का अभिसाधन 'उत्पत्ति-क्रम' (योग) तथा 'निष्पन्नक्रम' (योग) अर्थात् संहारयोग द्वारा होता है।

अधिकार—

तान्त्रिक साधना का लक्ष्य वज्रयोग की सिद्धि है। जब तक साधक का आधार या क्षेत्र योग्य नहीं होता तब तक इसकी साधना नहीं की जा सकती। पारमितानय का साधन नीति तथा चर्या की विशुद्धि पर प्रतिष्ठित होता है, किन्तु तान्त्रिक साधना आध्यात्मिक योग्यता पर निर्भर करती है। इससे स्पष्ट है कि तान्त्रिक साधना के लिए अधिक योग्यता की आवश्यकता होती है।

आचार्य परम्परा—

तान्त्रिक मत का उद्गम और प्राचीन परम्परा की चर्चा की जा चुकी है। बाद की परम्परा प्रायः 'आचार्य सरहपाद' से प्रारम्भ होती है। गुह्य-समाज आदि पितृतन्त्रों की परम्परा आचार्य सरहपाद तथा नागार्जुन से चलती है। इसकी एक दूसरी परम्परा भी है, जो आचार्य ज्ञानपाद से आरम्भ होती है। ज्ञानपाद नागार्जुन से कुछ बाद के थे। चक्रसंवर का प्रवाह बीच-बीच में टूटता रहा (योगो नष्टः परन्तप)। बाद में विशेषतः कृष्णपाद ने इसका पुनरुद्धार किया। इसके बाद वह परम्परा चलती रही। कृष्णपाद का काल विवादग्रस्त है, सम्भवतः वे सातवीं शताब्दी से पहले के थे।

विशेष तन्त्र—

विशेष तन्त्रों की परम्परा इस प्रकार है—बुद्धकपाली की परम्परा सरहपाद से, योगिनीतन्त्रों की परम्परा 'ल्वबपाद' (लवपाद) से, समयोगबिन्दु की परम्परा कृष्णपाद से, यमान्तकाल त्रिवेणी की परम्परा ललितवज्र से, वज्रामृत की परम्परा गम्भीरवज्र से, महामाया की परम्परा कुक्कुरीपाद से और श्रीकालचक्र की परम्परा आचार्य 'वितोपाद' से प्रारम्भ होती है। इनमें श्रीकालचक्र सबसे बाद का तन्त्र है। इसकी परम्परा ई० ७०० से प्रारम्भ होती है। 'बितोपाद' का काल प्रज्ञाकर गुप्त के समकालीन माना जाता है।

यह ज्ञातव्य है कि परम्पराओं के अनुसार श्रीकालचक्र तन्त्र को आचार्य बितोपाद 'शम्भल' नामक स्थान से ले आये। 'विमलप्रभा' (टीका) आदि के अनुसार शम्भल नामक स्थान सीतानदी के तटपर स्थित है। इस स्थान का दूसरा नाम 'कलाप' भी है। उपर्युक्त सीतानदी आजकल उत्तरी भारत में बहनेवाली सीता नदी नहीं प्रतीत होती। 'कलाप' नामक स्थान के चारों ओर विशाल हिमशिखरों का वर्णन है। हमारे भौगोलिक इतिहास में इसका वर्णन कहीं भी नहीं मिलता। सम्भवतः यह स्थान उत्तर की ओर कहीं अवश्य है।

—भिक्षु सेम्पा दोर्जे

—❀—

भोट देश में बौद्धधर्म एवं साधना

पांचवीं शताब्दी प्राच्य देशों के लिए एक वरदान के रूप में सामने आती है; जिसमें अनेक पिछड़े देशों के भाग्यशाली लोगों को सद्धर्म का अमृत संदेश मिला। विशेष रूप से छटी एवं सातवीं शताब्दी तिब्बती लोगों के लिए भी प्रातःस्मरणीय एवं मंगलमय युग था। इसी काल में बौद्ध धर्म के अमृत प्रवाह की प्रथम धारा तिब्बती जनजीवन के क्षेत्र में बहने लगी।

तिब्बत में धर्म एवं साधना का उद्गम

जब ईसा की सातवीं सदी के प्रथम चरण में सम्राट् स्रोङ्चन गम्पो राजगद्दी पर बैठे, तो उन्हें ऐसा लगा कि उनकी प्रजा और सम्पूर्ण राज्य बौद्धिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टि से असभ्य एवं अज्ञान के अन्धकार में डूबे हुये हैं। उस समय तिब्बत में पाठ-पाठन की कोई व्यवस्था नहीं थी। यहां तक कि वहां न कोई सुविकसित भाषा थी और न कोई लिपि ही। यह स्थिति सम्राट् स्रोङ्चन के लिए असह्य थी। अतः उन्होंने थोनमी सम्भोट आदि अनेक युवकों को अध्ययन के लिए भारत भेजा। उन्होंने आचार्य कुसर, शीलमञ्जु, विमलमित्र आदि विद्वानों (भारतीय) को तिब्बत बुलाया। जब सम्भोट सुशिक्षित होकर स्वदेश लौटा, तो उन्होंने 'नई भाषा' और 'लिपि' का निर्माण किया और व्याकरण सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की। उपर्युक्त भारतीय आचार्यों की सहायता से उन्होंने बहुत से बौद्ध धर्म सम्बन्धी शास्त्रों एवं सूत्रों का भाषान्तर भी किया। सम्राट स्रोङ्चन ने थोड़े ही समय बाद पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था की और स्वयं राजा भी अनेक महत्त्वपूर्ण शास्त्रों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने लगे। यहीं से भोट देश में पठन-पाठन तथा धर्म-दर्शन के लेखन एवं विमर्श-विचार का सूत्रपात होता है।

उस समय तक साधारण लोगों के लिए यह धर्म सर्वथा नवीन एवं अपरिचित था। तिब्बती लोगों में से सम्राट स्रोङ्चन ही धार्मिक आध्यात्मिक एवं तान्त्रिक रहस्यों के विशेषज्ञ थे। उन्होंने अनेक सुमेध एवं प्रतिभावान् लोगों को 'आर्य लोकेश्वर' सम्बन्धी साधनाविधि के अनुसार शिक्षित एवं दीक्षित किया। फलतः उनके बाद बड़ी मात्रा में लोग साधनानुष्ठानों में प्रविष्ट होने लगे। ऐसा कहा जाता है कि सम्राट स्रोङ्चन ने तिब्बत के पांच सौ जटिल सम्प्रदायवालों को एक साथ दीक्षा दी, और उन्हें साधना

में लगाया । कहा जाता है कि सम्राट ने जिन लोगों को अपने उपदेशों एवं अववादों से दीक्षित किया था, उनकी एक संगीति बुलाई, जिसे तिब्बती में "काछेम का खोलमा" कहा जाता है और उन उपदेशों के संग्रह को 'मणि-काबुम"। इस प्रकार सम्राट 'स्रोङ्चन' तिब्बती विद्वानों में से सर्वप्रथम उपदेशक के रूप में सामने आते हैं और 'मणिकाबुम' भोट देशीय ग्रन्थों में सबसे पहला संग्रह ग्रन्थ है। भोट देश के साधना-सम्बन्धी इतिहास के ज्ञान के लिए 'मणिकाबुम' के बारे मे कुछ जानना आवश्यक होता है—

मणिकाबुम—

कहा गया है कि मणिकाबुम एक साधना या योग विषयक संग्रहशास्त्र है। इसमें आर्य लोकेश्वर के विभिन्न रूपों और उससे सम्बन्धित साधनाओं का विवेचन हैं। साथ ही यह ग्रन्थ तान्त्रिक रहस्यों से भी भरा हुआ है। इसके बहुत से पहलू इतिहास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ से राजवंशों के इतिहास एवं समकालीन धार्मिक स्थिति तथा विकास के बारे में काफी प्रकाश पड़ता है। इन विषयों के रहते हुए भी इस ग्रन्थ को योग-शास्त्र से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें साधना एवं आचार के विभिन्न अंगों का प्रयोगिक रूप से विशद प्रतिपादन मिलता है, जो इस ग्रन्थ को मौलिक योगशास्त्र के रूप में सिद्ध करता है। इसमें जिन साधना-विधियों का प्रतिपादन किया गया है, वे करुणाप्रधान साधनाविधि हैं। इसके कुछ परिच्छेद 'मूलतन्त्र' के रूप में हैं, जिनमें आर्य लोकेश्वर को एक करुणादेवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

यद्यपि इस ग्रन्थ में प्रतिपादित साधना-विधियां भारतीय बौद्ध साधना-विधियों से बहुत भिन्न नहीं थीं, फिर भी इस पर सम्राट स्रोङ्चन गम्पो के व्यक्तित्व की अमिट छाप पड़ी हुई है। इसके अतिरिक्त देश, काल एवं सामाजिक वातावरण की भिन्नता के कारण इसकी प्रतिपादित साधनाप्रक्रियायों में बहुत कुछ अन्तर दिखलाई पड़ता है, इसके बावजूद, इससे साधना के सिद्धान्तों एवं मूल आधारों में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आती। जो कुछ हो, तिब्बत में प्रचलित साधनाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या थी, इसे जानने के लिए इस ग्रन्थ की सूचनायें जानना अत्यावश्यक है।

भोटदेशीय प्राचीन साधना का मूलाधार—

यह तो सर्वविदित है कि बौद्ध प्रस्थान सामान्यतया एक निवृत्तिप्रधान प्रस्थान है, जिसका मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही होता है। कोई भी बौद्ध परम्परा

इस उद्देश्य से मुक्त नहीं हो सकती । यही स्थिति तिब्बती साधनासंहिता के बारे में भी कही जा सकती है । विशेष रूप से तिब्बती साधक आज भी इस लक्ष्य को अपने जीवन का अनिवार्य अंग बनाये हुए हैं । वास्तव में दुःख-निवृत्ति की आकांक्षा ही योग अनुष्ठानों का आधार एवं प्रेरक है । यही बौद्ध साधना की आत्मा है । यह बात भोटदेशीय साधना के सम्बन्ध में भी पूरी तरह से लागू होती है ।

विशेषाधार—

भोट देश में प्रचलित साधना प्रणाली को संक्षेप में दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—'पारमितानय' तथा तान्त्रिक नय' । पारमितानय से सम्बन्धित साधनाओं का आधार साधारणतया 'करुणा' और 'प्रज्ञा' को माना जाता है । करुणा का अभिप्राय है सत्त्वों को दुःख से निवृत्त करने की प्रबल आकांक्षा और 'प्रज्ञा' का तात्पर्य है धर्म-प्रविचय अर्थात् वस्तुओं की यथार्थ स्थिति को जानने वाला ज्ञान तथा नैरात्म्य-ज्ञान आदि । इसे बौद्ध साधना की शब्दावलि में 'साधना वस्तु' कहा जाता है । कोई भी साधना यदि इन दोनों वस्तुओं से रहित या विमुक्त है, तो उसे साधना की कोटि में नहीं रखा जा सकता । साधना के सम्बन्ध मं तिब्बती साधकों का भी यही निश्चय रहा है । अतः यह स्पष्ट है कि भोटदेशीय साधनासंहिताओं का मूलाधार कारण की दृष्टि से 'करुणा' तथा 'निःसरणचित्त' अर्थात् दुःख-निरोधप्राप्ति की इच्छा ही रहा है; और उद्देश्य या प्रयोजन की दृष्टि से निरुपधिशेष निर्वाण एवं अप्रतिष्ठित निर्वाण रहा है ।

तान्त्रिकाधार—

तान्त्रिकनय के अनुसार साधना का आधार केवल महाकरुणा ही हो सकता है; विशेषतया उसका भी अनालम्बन ही होना आवश्यक है । तान्त्रिक शब्दावलि में साधना का लक्ष्य 'वज्रपद' की प्राप्ति है । भोट साधक 'वज्रपद' की प्राप्ति को अपनी साधना का परम उद्देश्य बताते हैं । यों तो तान्त्रिक साधना का प्रायोगिक आधार मण्डलादि होता है,[१] तथा फलावस्थाओं के अनुरूप[२] ही योगानुष्ठानों का पालन होता है । यदि हमें इन बातों

१. मण्डल से तात्पर्य है दिव्य मण्डल, जिसमें साधक तन्त्रनय के विधानों के अनुसार प्रवेश करता है । यह प्रायः समाधि द्वारा ही निर्मित्त होता है ।

२. फलावस्था के अनुरूप से अभिप्राय अपने 'इष्ट देव से योग की भावना' है । गुह्य

को एक ही वाक्य में कहना हो तो कहा जा सकता है कि—तान्त्रिक साधना का क्षेत्र अलौकिक दिव्य-देवमण्डल आदि होता है और अन्य साधनाओं का कार्यक्षेत्र दृश्य जगत ही होता है।

साधना की विभिन्न शाखाएं

साधारणतया तिब्बत में अनेक प्रकार की साधनाप्रणालियां देखने में आती है। फिर भी ये सिद्धान्तों के आधार पर एक दूसरे से भिन्न नहीं है; अपितु इनकी भिन्नता का कारण आचार्यों का प्रयोगभेदमात्र है। अतः यहां इस प्रकार की छोटी-मोटी भिन्नताओं में न जाकर उनकी मौलिक भिन्नताओं के कारणों को समझना चाहिए।

यह पहले ही कहा गया है कि तिब्बत में प्रचलित सभी प्रकार के योगानुष्ठानों के दो विभाग हैं—पारमितानय और मन्त्रनय। 'पारमितानय' के दो विभाग हैं—'शमथ' और 'विपश्यना'। 'शमथ' के अन्तर्गत प्रथम 'एकाग्रता चित्त' से लेकर ध्यान-भूमियां और अरूपावचर आदि की समाहित चित्तभूमियां आती हैं। इन भूमियों में 'विपश्यना' गौण रूप से ही रहती है। विपश्यना के अन्तर्गत मुख्य रूप से ज्ञानमार्ग आदि आते हैं।

मार्ग के अन्तर्गत आठ श्रावक भूमि, एक प्रत्येक बुद्ध भूमि, दस बोधिसत्त्वभूमि और एक बुद्धभूमि आती है।[१] इन शाखाओं का भेद योग के आलम्बन एवं प्रहातव्य अन्तरायों के आधार पर ही किया जाता है। इनकी शाखाओं के रूप में समाधियों का भेद या उसकी शाखाएं आती हैं।

वज्रयान में इसे अत्यन्त 'गम्भीर उपाय' कहा जाता है। यही रूपी काय की प्राप्ति का असाधारण हेतु है। इसके द्वारा फलावस्था में जो रूपी काय की प्राप्ति होने वाली है, उसकी आकृति एवं स्थान आदि की अपनी आकृति एवं स्थान आदि से समानता के आधार पर भावना की जाती है।

१. आठ श्रावक भूमियाँ:—श्वेतविदर्शनाभूमि, कौलभूमि, अष्टमीभूमि, दर्शनभूमि, काठिन्यभूमि, वैराग्यभूमि, कायाधिगमभूमि और श्रावकभूमि। प्रत्येकबुद्धभूमि—इसको कभी श्रावकभूमि में गिना जाता था, इसके अनुसार श्रावकभूमि के ९ भेद हो जाते हैं। अतः इसे नवमभूमि कहा जाता है।

दस बोधिसत्त्वभूमियों का नाम इस प्रकार है—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जय, अभिमुखी, दुरङ्गमा, अचला, साधुमति और धर्ममेघा। एक बुद्धभूमि—समन्तप्रभा।

तान्त्रिकशाखाएँ—

उपर्युक्त साधनासंहिताओं के अतिरिक्त बहुत सी साधना ऐसी भी हैं, जिनका सम्बन्ध 'मन्त्रनय' से है। तिब्बती साधनापरम्परा में 'मन्त्रनय' का समावेश इतने सार्वत्रिक रूप से एवं गहराई से हो गया है कि आज साधारण लोगों के लिए 'पारमितानय' से 'मन्त्रनय' की मौलिक भिन्नता समझना बहुत कठिन हो गया है। फिर भी यहाँ कुछ ऐसी विशेष साधनाप्रक्रियाओं का उल्लेख किया जा रहा है जिनके आधार पर इसका कुछ परिचय मिल सके।

महामुद्रायोग, हठयोग (यह हठयोग वैदिक परम्परा में प्रचलित हठयोग से बहुत भिन्न है) षष्ठयोग, प्रायोगिक षष्ठयोग, पञ्चाङ्गयोग, षष्ठ निकाय समरसयोग, सहजयोग, गुह्यचर्याविवृत्तियोग, पञ्चाङ्ग अमृतविन्दु, उत्पत्ति-क्रमयोग (क्येद रिम) समाहार या प्रत्याहारयोग आदि इस प्रसङ्ग में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त कुछ साधना साधक या योगी के इष्टदेव के नाम से भी प्रचलित हैं, जैसे: लोकेश्वर साधनाप्रणाली, अक्षोभ्य साधनाविधि, कालचक्रसाधना आदि। यह ज्ञातव्य है कि लोकेश्वर आदि के नाम से प्रचलित साधनाविधियों में किसी प्रकार की व्याख्या नहीं होती। इसमें केवल कर्मकाण्डों का विधानमात्र रहता है और उसी के आधार पर वे परस्पर भिन्न होती है।

तिब्बत में विशेष रूप से प्रचलित 'लामाई नलजोर' नामक और एक विशेष साधना है, जिसके स्वरूप में 'मन्त्र नय' और 'पारमिता नय' दोनों का समन्वय होता है। इसका आधार 'तन्त्र' एवं 'सूत्र' दोनों में पाया जाता है। कहा जाता है कि इस साधना में अद्भुत सामर्थ्य निहित है। इससे साधना की इष्टसिद्धि बहुत ही जल्दी होती है।

आचार्यों का संक्षिप्त परिचय—

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि स्रोङ्चन गम्पो सम्राट होने के साथ-साथ एक महान धार्मिक उपदेशक भी थे। इनके बाद तिब्बत में आचार्यों एवं साधकों की विशाल परम्परा चली।

तिब्बती धार्मिक विकास के इतिहासों पर दृष्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि तिब्बत में 'विनय' एवं 'अभिधर्म' सम्बन्धी साधना परम्पराओं से पहले 'मन्त्र नय' की साधना पहुँची। इसके सर्वप्रथम प्रचारक आचार्य विमलमित्र, शीलमञ्जु और कुसर आदि थे। ये लोग सम्राट स्रोङ्चन के द्वारा आमन्त्रित भारतीय आचार्य थे। कहा जाता है कि इनमें से आचार्य

शीलमञ्जु नेपाली थे। इनमें से आचार्य विमलमित्र को तान्त्रिक दृष्टि से प्रधान आचार्य माना जा सकता है; परन्तु परवर्ती तिब्बती परम्परा आचार्य 'पद्मसम्भव' (सरोजवज्र) को ही तान्त्रिक मत का प्रवर्तक मानती है। तान्त्रिक साधना की दृष्टि से लोचावा 'वैरोचन', भिक्षु गगन-गर्भ (नम खई ञिङ्पो) मारवा लोचावा, ख्युङ्पो नलजोरपा आदि का भी महत्त्व कम नहीं है। इन आचार्यों एवं विद्वानों का काल एवं मत निम्नांकित तालिका के अनुसार है:—

	सन्	आचार्य	मत	देश
लगभग	६१५	स्रोङ्चन गम्पो	ञिङ्मापा	(तिब्बती)
	,,	थोनमी सम्भोट	×	,,
	६२५	विमलमित्र	ञिङ्मापा	(भारतीय)
	,,	शीलमञ्जु	,,	(नेपाल)
	,,	कुसर	,,	(भारतीय)
	८१५	खिसोङ देउचन	ञिङ्मा	(तिब्बती)
	८२५	शान्तरक्षित		(भारतीय)
	८२५से२५	पद्मसम्भव	ञिङ्मा	(भा०)
	,,	भिक्षु गगनगर्भ	,,	(ति०)
	,,	लोचावा वैरोचन	,,	(ति०)
	१०७५	मारवा छोसक्यिलोडो	काग्युद्पा	(ति०)
लगभग	१०४०	ख्युङ्पो नलजोरपा	,,	,,
	१०५०	दीपंकर श्रीज्ञान, रत्नभद्र	कादम्पा	(भा० ति०)
	१०८०	दम्पा संग्या	शिजेदपा	(भा०)
	,,	मचिक लवडोन	छोद	(ति०)
	१३५७	चोङखापा सुमतिकीर्ति	गेलुगपा	(ति०)
	१०३४	खोन कोन छोग ग्यलपो	साक्यापा	(ति०)
लगभग	१२५०	साक्या पनछेन, कुन०	साक्यापा	(ति०)

इन आचार्यों के काल के सम्बन्ध में सभी विद्वान एक मत नहीं है। अत: यहाँ तिब्बती रब्लो (शताब्दी) के अनुसार कुछ विद्वानों का मत दिया गया है।

साधना की पद्धति

तिब्बत में साधना एवं योग परम्पराओं की संख्या बहुत अधिक हैं। उन सब परम्पराओं की पद्धति भी कुछ भिन्न ही होती है। परन्तु उनके

मूल-स्रोतों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि उन भेदों का कोई मौलिक आधार नहीं है ; अपितु ये केवल आचार्यों की भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। अतः हम इन भेदों को सैद्धान्तिक तौरपर दो ही भागों में विभक्त कर सकते हैं— सामान्य और विशेष। सामान्य योगसंहिता के पात्र के भेद से तीन भेद हो जाते हैं—श्रावक प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्व सम्बन्धी पद्धतियाँ। इन्हें 'यान' के नाम से भी जाना जाता है। प्रक्रिया या प्रायोगिक दृष्टि से प्रत्येक यानों की अनेक-अनेक शाखाएँ होती है।

विशेष साधनाप्रणाली में 'मन्त्र नय' सम्बन्धी साधना आती है। इसमें भी सैद्धान्तिक दृष्टि से मुख्यतया चार भेद माने गये हैं—क्रिया, उपाय, योग, महायोग या अतियोग। इनमें भी प्रत्येक के अन्तर्गत असंख्य समाधियाँ एवं कर्मविधियाँ समाविष्ट हैं। संक्षेप में यह कहना असंगत नही होगा कि 'महासुख' एवं शून्यताज्ञान की समरसता" ही मन्त्रनय सम्बन्धी योगसाधना की नियामक होती है, जब कि 'पारमिता नय' सम्बन्धी पद्धति में तीन प्रकार के विमुक्तिद्वार ही योगसाधना के नियामक होते हैं।

तिब्बत में प्रचलित चार प्रमुख सम्प्रदाय

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तिब्बत में अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं। उनमें से कुछ के नाम काल की दृष्टि से और कुछ के नाम उपदेश एवं स्थान की दृष्टि से रखे गये है। इनमें से प्रधान चार माने जाते हैं, ये चार हैं—ञिङ्मापा, साक्यापा, काग्युद्पा और गेलुग्सपा।

ञिङ्मापा—

यह तो सर्वविदित है कि तिब्बत में बौद्ध धर्म की दो विचार धाराएँ प्रचलित हैं—पारमितायान और वज्रयान। इनमें से वज्रयान के विकास के कालक्रम के आधार पर तिब्बत में मुख्यतया दो मत प्रचलित हुए; ञिङ्मापा (प्राचीन परम्परा) और सरमापा (नयी परम्परा)। बौद्ध धर्म के पूर्वोदयकाल से लेकर स्वामी स्मृतिपाद के तिब्बत में पहुँचने के काल तक जितना तान्त्रिक ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन एवं सिद्धान्त प्रचलित हुये उन्हें पूर्व परम्परा कहते हैं और उन सिद्धान्तों के मानने वाले लोगों को 'ञिङ्मापा' कहते हैं।

जिङमापा आचार्य-पद्मसम्भव को अपना प्रधान आचार्य मानते हैं। पद्म-सम्भव ८१० ई० के विख्यात तान्त्रिक आचार्य हैं। जिङमा सम्प्रदाय का प्राचीन धार्मिक केन्द्र सम्या छिम्बु है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि तिब्बती बौद्ध परम्परा में जिङ-मापा और सरमापा दो मत प्रचलित हुए। इनमें से सरमापा उसे कहते हैं, जो परम्परा लोचावा रिन्छेन जङपो (रत्नभद्र, ई० सन् ६७८) आदि से लेकर बाद में चली। इनके आभ्यन्तर तीन भेद माने जाते हैं—काग्युद्पा, साक्यापा और गेलुग्सपा।

काग्युदपा

काग्युदपा यह नाम परम्परा की दृष्टि से पड़ा है। सन् १०१२ ई० में 'मरवा छोस क्यि लोडो' (धर्ममति) नामक महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ। वयस्क हो जाने पर उन्होंने अध्ययन के लिए भारत की तीन बार यात्रा की। महापण्डित नरोपाद (नडपाद), आचार्य मैत्रीपाद आदि अनेक गुरुओं का चरणसेवन कर उन्होंने प्रायः समस्त बौद्ध वाङमय का अध्ययन किया। स्वदेश लौटकर उन्होंने तान्त्रिक रहस्यों से परिपूर्ण अपना पृथक् मत चलाया। इनके द्वारा प्रवर्तित तथा 'जेचुन मिला रसपा' और 'ञमभेद दगपो ल्हाजे' आदि मनीषियों द्वारा संवर्द्धित परम्परा काग्युदपा कहलाती है। इसके कुछ उपभेद भी माने जाते हैं—जैसे कम्छङपा, डिगुङपा, आदि आदि।

साक्यापा

साक्यापा यह नाम स्थान की दृष्टि से पड़ा है। १०३४ ई० सन में तिब्बत के पश्चिमी भाग में 'खोन कोनछोग ग्यलपो (रत्नराज) नामक एक महापुरुष का जन्म हुआ। समयानुसार उन्होंने सरमापा और जिङमापा दो परम्पराओं से सम्बन्धित विषयों का सफलतापूर्वक अध्ययन किया। विशेष रूप से 'डोग मी लोचावा' के मुख से आचार्य धर्मपाल (नालन्दा के उपाध्याय) और आचार्य 'गयाधर' द्वारा प्रवर्तित परम्पराओं के 'मार्ग' एवं फल विषयक उपदेश सुने। बाद में उन्होंने साक्या नामक स्थान में एक मठ की स्थापना की और वहीं से अपने मतों का प्रचार किया। इनके द्वारा प्रवर्तित एवं पश्चात् सछेन गोङमा लोगों द्वारा संवर्द्धित मत के अनुयायियों को साक्यापा कहते है।

गेलुग्सपा—

गेलुग्स भी एक स्थान से सम्बन्धित नाम है। सन् १३५७ ई० में तिब्बत के पूर्वी क्षेत्र 'चोङ्खा' नामक स्थान में सुमतिकीर्ति नामक एक महापुरुष

का प्रादुर्भाव हुआ, जो चोङ्खापा नाम से भी जाने जाते हैं। वे बाद में बहुत बड़े विद्वान् एवं सिद्ध बन गये। उन्होंने उस समय के प्रचलित सभी विषयों का सांगोपाङ्ग अध्ययन किया। बाद में ल्हासा से कुछ दूर 'गेदन' नामक पर्वत पर उन्होंने एक मठ की स्थापना की। वहीं से उनकी परम्पराएँ चली। इस तरह उनके द्वारा प्रवर्तित एवं ग्यल छपजे, खडुवजे आदि द्वारा सम्वर्द्धित परम्परा, 'गेलुग्स' अथवा 'गेदनपा' कहलाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भोट देश में प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों का कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं है। इन परम्पराओं का भेद केवल स्थान आदि के आधार पर ही है। ये सब परम्पराएँ विनय की दृष्टि से सर्वास्तिवाद है और दर्शन की दृष्टि से महायान हैं। शून्यता एवं करुणा सभी लोगों को मान्य हैं।

बोन परम्परा में साधना

भोट देश में बौद्ध के अतिरिक्त एक और धार्मिक संप्रदाय भी था, जिसको लोग 'बोन' के नाम से जानते हैं। 'बोन' सम्प्रदाय एक व्यापक एवं विशाल सम्प्रदाय है। साहित्य एवं साधना की दृष्टि से इसकी तुलना बौद्ध धर्म के साथ की जा सकती है। इसका उदय बहुत पहले ही माना जाता है। परन्तु तिब्बती राष्ट्रीय जीवन में 'बोन' धर्म का प्रवेश ईसवी प्रथम शताब्दी के आसपास में ही हुआ था। बोन सम्प्रदाय का प्रवर्तक परम्पराओं के अनुसार 'मेफो शेन रब मुनि' हैं। जिस प्रकार बौद्ध लोग भगवान गौतम बुद्ध को अपना शास्ता मानते हैं, उसी प्रकार बोन लोग भी भगवान् 'मेफो शेन रब' को अपना शास्ता मानते हैं। 'शेन रब मुनि' स्वयं गौतम बुद्ध के समान एक बुद्ध हैं। यद्यपि 'बोन' और 'बौद्ध' इन दोनों में बहुत सी समानताएं हैं, फिर भी 'बोन' को बौद्धेतर ही माना जाता है।

साधनाओं की स्थिति

बोन सम्प्रदाय कोई दार्शनिक सम्प्रदाय नहीं है। वह एक साधना सम्प्रदाय है। इसका धार्मिक साहित्य बहुत विशाल है। इनकी आचार-संहिता ऊपर से लेकर अन्त तक साधना विधि-विधानों से भरी हुई है। इनमें प्रतिपादित साधनाविधियाँ प्रायः तान्त्रिक ही हैं। इसमें बौद्धों की तान्त्रिक साधना के समान इष्ट देव की भावना और मन्त्रों का उच्चारण आदि का भी विधान किया गया है। यह ज्ञातव्य है कि प्रारम्भिक बोन परम्पराओं में मन्त्रों का प्रयोग केवल 'इहश्री' के लिए ही होता था। इनके साधना सम्बन्धी कार्यक्रमों में यज्ञ-याग आदि का भी विस्तृत विधान

मिलता है। इसके अतिरिक्त इनकी साधनाविधियों में 'रसायन' सम्बन्धी साधनाओं का भी उपयोग होता था। यदि हम 'बोन' साधना-परम्पराओं की सीमा खोजें, तो यह कहना पड़ेगा कि इनकी सीमा देखने के लिए एक ही जीवन पर्याप्त नहीं है, अपितु इसके लिए अनेक जन्म लेना पड़ेगा।

बोन सम्प्रदाय का केन्द्र

'बोन' सम्प्रदाय का खास केन्द्र कहाँ था, यह विवादास्पद प्रश्न है। बोन परम्पराओं का प्राचीन केन्द्र सम्भवतः 'शङ्ग शुङ्ग' नामक प्रदेश में था, जो आजकल तिब्बत के अन्दर पड़ता है। यह स्थान मानसरोवर और कैलाश पर्वत के आसपास में था। बाद में बोन धर्म इस स्थान से तिब्बत (ल्हसा आदि), कोङपो, मंगोलिया, होर, तक-सिक आदि की ओर फैला। सम्भवतः भारत के पश्चिमी भागों में भी इसका अस्तित्व काफी दिन तक रहा होगा; परन्तु आज कोई खास प्रमाण नहीं मिलता। आज हमें केवल बोन परम्पराओं के कथन पर ही विश्वास करना पड़ता है। मंगोलिया, होर (यरकेन) आदि के बहुत से भागों में प्राचीन बोन परम्पराओं के अवशेष आज भी काफी संख्या में मिलते हैं। तिब्बत के दक्षिणी एवं पश्चिमी भागों में तो 'बोन' लोग धार्मिक दृष्टि से काफी सम्पन्न रूप में रहते हैं।

यद्यपि बोन परम्पराओं के प्रति लोगों की दृष्टि बहुत अच्छी नहीं है, प्रायः उन्हें बुरी नजर से देखा जाता है, परन्तु वास्तविक रूप से देखा जाये तो प्रतीत होता है कि जीवन की 'इहश्री' के लिए तो बौद्ध एवं अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा 'बोन' सम्प्रदाय अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है।

—भिक्षु सेम्पा दोर्जे

—:०:—

जापान की बौद्ध साधनायें

भारत की विशिष्ट दार्शनिक परम्पराओं में और उसी प्रकार पाश्चात्य अध्यात्मवाद के पीछे एक अनन्त रहस्य का जाल बुना हुआ दिखाई देता है। इससे साधना का परिशुद्ध रूप दब सा जाता है और काल-भेद से साधक की अवस्था का एक व्यामोहात्मक रूप (Semi Trance State) खड़ा हो जाता है। इसीलिए मध्यकालीन सन्तों, सूफियों और उनका अनुसरण करने वाले देववाही योगियों की परम्परा में अनेक चमत्कारों के सृजन पर जोर दिया जाने लगा। ईसाई साधकों का पुराने ज्ञात सन्तों के साथ संलाप उनकी साधना के अनेक रहस्यों में से एक आवश्यक तत्व बना। देल्फी का संदेशवहन (Oracle) इसी कोटि में आता है।

बौद्ध साधना इस प्रकार की साधना से सर्वथा भिन्न है। जब तक मनुष्य तृष्णा से विमुक्ति नहीं पा लेता और जब तक उसके हर प्रकार के चित्त-संशय विच्छिन्न नहीं हो जाते, उसकी साधना शुद्ध नहीं होती।

चित्त की एकाग्रता पहली सीढ़ी है। चित्त का स्वरूप वायु की तरह चंचल है। उसे एकाग्र करना पड़ता है। एकाग्र होनेपर वह जगत् की सबसे बड़ी शक्ति में परिणत हो जाता है। पंच स्कन्धों और प्रतीत्यसमुत्पाद (Dependent Origination) की प्रक्रियाओं को अच्छी तरह समझ लेने पर मनुष्य अत्त - जन्य भय अथवा दुःख की बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है। उसमें निर्विकार समत्व की प्रतिष्ठा होने लगती है और वह भव (संसार) के कार्यकारण सिद्धान्त को जानकर द्वन्द्वात्मक प्रतीति (Dualistic Essence) को सृष्टि का रहस्य मान कर सब कुछ एक खेल की तरह देखने लग जाता है। क्रमिक अभ्यास से साधक सब प्रकार के अकुशल कर्मों से निःसंग हो जाता है। उसमें प्रत्येक व्यवहार ज्ञान, सदाशयता और मैत्री से परिपूर्ण होने लगते हैं।

अभिधम्म (संस्कृत < अभिधर्म) दर्शन में चित्तक्षण उसका उत्पाद (आरम्भ), स्थिति एवं भंग (विलय) अच्छी तरह समझाए गए हैं। इन्हीं चित्तक्षणों से संस्कार बनते हैं जो विचार प्रक्रिया को जन्म देते हैं।

बौद्ध साधना में प्रज्ञामय श्रद्धा को विशेष महत्व दिया जाता है। भावना या समाधि का वही प्रस्थान विन्दु है। इसी लिए 'मेत्ता' अथवा मैत्री पर विशेष रूप से बल देते हुए चित्तपथ में अकुशल वितर्कों—काम, व्यापाद और विहिंसा का त्याग कर कुशल वितर्कों का सञ्चय करने की शिक्षा दी गई है। कुशल वितर्क नैष्क्रम्य, अव्यापाद और अविहिंसा हैं।

'भावना' ब्रह्मविहारों में से एक है। भावना द्वारा ही 'मध्यम मार्ग' सुगम हो सकता है। मध्यम मार्ग दो अंतों के बीच का मार्ग है—शाश्वत दृष्टि से आत्मा का सिद्धान्त मानने वाला मार्ग, जो पूर्वांत में अनुपतित होता है और दूसरा उच्छेद दृष्टि से आत्मा को अस्वीकार करने वाला सिद्धान्त जो दूसरे अन्त में अनुपतित होता है। इन अन्तों के लिए बौद्ध परिभाषा में 'कामसुखानुयोग' और 'आत्मक्लमथानुयोग' पदों का व्यवहार हुआ है जिनका परिहार 'मध्यमा प्रतिपदा' प्रक्रिया को समझने के लिए आवश्यक है।

तथागत के दार्शनिक सिद्धान्तों को बोधगम्य करलेने वाले साधक के लिए शीलव्रतों का पालन—पातिमोक्ख (सं० > प्रातिमोक्ष) के २२७ विनय के के नियम, चार स्मृतिप्रस्थानों की भावना और तीन समाधियों—क्षणिक, उपचार एवं अपन्ना का अभ्यास आवश्यक हैं। इनसे चार आर्यसत्यों का ज्ञान हो जाता है जो 'विपश्यना ज्ञान' है। विपश्यना साधना की वह प्रक्रिया है जो ऊर्जा की ओर ले जाती है जिसे आधुनिक परिभाषा में हम 'मनुष्य का उच्च आरोह' (Ascent of Man) कह सकते हैं। 'निर्वाण' का पथ यही है।[१]

साधना का उद्देश्य थेरवाद और महायान में प्रायः समान है, किन्तु परिस्थिति-भेद के कारण दोनों के बाह्यार्थ में काफी भेद आगया। फिर भी यह भेद उतना नहीं है जितना पाश्चात्य देशों की विशीर्ण साधनाओं (Discursive Meditations) में परिलक्षित होता है। एशिया में शीलव्रतों और नेक्खम्म (नैष्क्रम्य) की उपासना से उसकी रक्षा हो गई। महाश्रमण ने 'हेतु' से उत्पन्न होने वाले धर्मों के हेतु बतलाए और उनके निरोध का उपाय भी बतलाया—

---

१. त्रिपिटक के विभिन्न स्थलों के अनुशीलन से साधना की एक व्यापक प्रक्रिया (मेथॉडॉलॉजी) का संग्रह किया जा सकता है।

'ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेसं तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो एवं वादी महासमणो॥'

विधायिनी अहिंसा ने मैत्री[२] की प्रेरणा दी और मुदिता ने संसार को दुःखमय कोलाहल (जिसके लिए तिब्बती भाषा में मुझे एक बड़ा उपयुक्त शब्द मिला है 'दुङ् हल') से उबार लिया।

एशिया में बौद्ध साधना के सम्बन्ध में जितने प्रयोग जापान में हुए हैं सम्भवतः उतने अन्य किसी देश में नहीं हुए हैं। वहाँ बौद्ध धर्म के प्रवेश के समय के विषय में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। ऐसा प्रतीत होता है कि जापान में बौद्ध धर्म कोरिया से पहुँचा। यह घटना सातवीं शती ईसवी की है। उस समय जापान में सम्राट् शोतोकु का शासन था जो जापान के अशोक कहे जाते हैं। उनके समय में बौद्ध धर्म का काफी प्रचार हुआ और होर्योजी के विशाल मन्दिर की स्थापना हुई। अजन्ता के सुरम्य भित्तिचित्रों से अभिप्रेरित तथा कोरिया और चीन की कलाओं से मंडित यह मंदिर एशिया का एक महान् संग्रहालय है।

शोतोकु के उपरान्त धर्म क्रमशः विभिन्न युगों में विभिन्न रूपों में संगठित होता रहा। यथा—

क. प्रथम युग (लगभग ५२५ ई०—ल. ८२५ ई०)
ख. द्वितीय युग (ल. ८२५ ई०—ल. १२०० ई०)
ग. तृतीय युग (ल. १२०० ई०—ल. १३५० ई०)
घ. चतुर्थ युग (ल. १३५० ई०—वर्तमान समय तक)

साधारणतः इतिहासकार यह मानते हैं कि भारतीय संस्कृति के प्रसार की दो धारायें सम्राट् अशोक के युग में चलीं—पहली धारा क्रमशः लंका, बरमा, सिआम (थाईलैण्ड), जावा, सुमात्रा में गई और दूसरी पामीर एवं हिन्दुकुश की शृङ्खलाओं को लाँघकर हिमालय के पारवर्ती देशों में मध्य

---

२. मैत्री भावना आकाश तरंगों की तरह सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित हो उठती है और मनुष्य के चित्त को समाहित कर उसके 'पर्युत्थान' में सहायक होती है। इस विषय में एक पाश्चात्य बौद्ध विचारक के शब्द हैं—

'Thoughts of Universal, undiscriminating benevolence like radio waves reaching out in all directions sublimate the creative energy of the mind.' (Buddhist Meditations, Bodhi Leaves B 15, Buddhist Publication Society, Kandy, Ceylon, 1963).

एशिया, गान्धार, यवन, पारसीक (ईरान) आदि प्रदेशों में पहुँची। आगे चलकर दूसरी धारा कनिष्क के राजत्वकाल (ईसा की प्रथम शती) में और तदुपरान्त तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया एवं जापान में जा फैली।

परन्तु इस धारणा का खण्डन बौद्ध साहित्य के पालि ग्रन्थ 'महानिद्देस' और 'अपदान' से होता है। महानिद्देस उन सभी बन्दरगाहों का उल्लेख करता है जहाँ ईसा से पूर्व भारतीय व्यापारी पहुंचे थे और इसी प्रकार अपदान, जिसकी रचना कनिष्क से निर्भ्रान्त रूप से पूर्व की है, चीन के साथ भारतीय व्यापार का सामुद्रिक मार्ग से संबंध सिद्ध करता है। ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक कालक्रमों पर हमें फिर से विचार करने की आवश्यकता है।

इतिहासकारों का एक और भी मत इस प्रसंग में प्रायः चिन्त्य है। वह यह है कि जापान में महायान धर्म का ही प्रचार हुआ। यह सच है कि महायान की वहाँ विशेष प्रतिष्ठा है, परन्तु थेरवाद से संबंधित दो ऐतिहासिक सम्प्रदाय 'कुश' और 'जो-जित्सु' भी वहां प्रतिष्ठा पा चुके हैं। जापानी भाषा में थेरवाद के लिए 'शोजो' और महायान के लिए 'दायिजो' शब्द व्यवहृत होते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में तथा सम्प्रदायों के आश्रय-भेद से उत्पन्न साधनाओं के मूल रूप में विशिष्ट परिवर्तनों के विकासक्रम में जापान के विभिन्न सम्प्रदायों की मूल प्रवृत्तियों और साधना के पक्षों को लेकर हम एक अनुशीलन यहां रख रहे हैं।

जापान में ग्यारह बौद्ध सम्प्रदाय विशेष रूप से प्रतिष्ठित रहे हैं। वे सम्प्रदाय-भेद से क्रमशः दो वर्गों में रखे जा सकते हैं, जिनके अनुसार उनकी साधनाओं में भी अवान्तर भेद पाये जाते हैं।[3]

क. थेरवादाश्रयी सम्प्रदाय
१. कुश (अभिधार्मिक)
२ जो-जित्सु (अभिधार्मिक)
ख. महायानाश्रयी सम्प्रदाय
३. सनरॉन (शून्यतावादी)
४. होस्सो (आदर्शवादी)
५. केगोन (प्रत्येक बुद्धानुसारी)

---

३. देखिए, ई. स्टाइनबेर-ओबर्लिन (E. Steinilberoberlin)-कृत 'दि बुद्धिस्ट सेक्ट्स ऑव जापान' अंग्रेजी भाषान्तर, जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन लिमिटेड, १९३८.

६. तेण्डइ (प्रत्येक बुद्धानुसारी)
७. शिंगोन (प्रत्येक बुद्धानुसारी)
८. ज़ेन (प्रत्येक बुद्धानुसारी)
९. जोडो (सुखावतीव्यूहानुसारी)
१०. शिंशु (सुखावती व्यूहानुसारी)
११. निचिरेन (सद्धर्मपुण्डरीकानुसारी)

कुश सम्प्रदाय

जापान में कुश सम्प्रदाय की स्थापना ६५८ ई० में दो जापानी पुरोहितों द्वारा हुई—चित्सु और चितत्सु उनके नाम थे। उन्होंने चीन से बौद्ध धर्म और साधना की शिक्षा ग्रहण की थी। इस सम्प्रदाय का प्रमाण ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' है जिसके रचयिता वसुबन्धु थे। कुश नाम भी 'कोश' शब्द का अपभ्रष्ट रूप है।

इस सम्प्रदाय की स्थापना नारा में हुई जहां तोदाइ-जी और कोफुकु-जी तथा उनसे भी प्राचीन होर्यू जी के स्वर्ण और कांस्यमय बुद्ध प्रतिमायुक्त विशाल मंदिर अवस्थित हैं। नारा में ही दायी-बुत्सु (महा बुद्ध) की साढ़े तिरपन फुट ऊँची एवं बारह हजार दो सौ पचहत्तर मन भारी पीतल की मूर्त्ति उस काल की धार्मिक आस्था का परिचय देती है।

कुश सम्प्रदाय की साधना जो-जित्सु और सनरॉन सम्प्रदाय की साधना से बहुत मिलती है, क्योंकि इन तीनों साधनाओं में शून्यता (Vacuity) पर जोर दिया गया है। साधना का स्वरूप बहुत कुछ वही है जो भारत में प्राचीन बौद्ध साधना में पाई जाती है जिसके संकेत त्रिपिटक में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। 'सुत्तनिपात' के 'राहुलोवाद' 'मोनेयसुत्त' एवं 'विजय-सुत्त' की भावना के समान ही इन साधना पद्धतियों की भावना प्रारंभ होती है।

कुश साधक यह मानते थे कि 'आत्मा' जैसी कोई वस्तु नहीं है। यह केवल भ्रम है। 'मिलिन्द प्रश्न' में नागसेन ने जिस प्रकार रथ का दृष्टान्त देकर आत्मा का खण्डन किया है वही ढंग कुशों ने अपनाया। उन्होंने कहा कि एक घण्टा भी यदि इसकी भावना की जाय कि आत्मा नहीं है तो मनुष्य का चित्त काफी समाहित हो सकता है। 'बोधि' की प्राप्ति के लिए छ पार-मिताओं (पालि > पारमी—ज्ञान, सील, दान, विरिय, अधिट्ठान, पञ्ञा का सतत् अभ्यास अपेक्षित है। पारमी को जापानी में 'रोकुडो' कहते हैं।

कुश सम्प्रदाय का मूल दर्शन यही है—आत्मा की अस्वीकारोक्ति एवं तत्वों (संज्ञा, स्मृति, प्रज्ञा) की, जिन्हें वह 'धर्म' (जापानी > हो) कहता है, यथार्थता ।

जो-जित्सु सम्प्रदाय

जो-जित्सु सम्प्रदाय ६२५ ई० के आसपास कोरिया से क्वानरोकु ओर एकवान नामक बौद्ध साधुओं (बॉज़) के द्वारा जापान में प्रविष्ट हुआ। इसका मूल ग्रंथ जापानी में 'जो-जित्सु-रॉन' (सं० > सत्य-सिद्धि-शास्त्र) है। सत्यसिद्धि शास्त्र संस्कृत की गुप्तकालीन व्याख्या है जिसके रचयिता हरिवर्मन थे। इस ग्रंथ से कुश और सनरॉन सम्प्रदायों के बीच के विभेद का मूलाधार प्राप्त होता है।

जो-जित्सु साधक 'आत्मा' और 'तत्व' दोनों की असारता बतलाते हैं। यह कुश की अपेक्षा अधिक शून्यतावादी दर्शन है। इसलिए जो-जित्सु साधक दो-शून्यताओं की भावना करते हैं। उनके अनुसार भूत और भविष्य दोनों नहीं हैं; जो है वह केवल वर्तमान है। परन्तु यह वर्तमान भी क्षणिक है। जो एक क्षण है वह दूसरे क्षण शून्य में मिल जाता है। यथार्थता बिजली की चमक की तरह केवल एक क्षणिकता भर है। जो-जित्सु साधक संसार को 'ओस की बूँद' के समान देखते हैं।

सनरॉन सम्प्रदाय

सनरॉन सम्प्रदाय के आधार तीन धर्मग्रन्थ हैं जो मध्यम मार्ग के दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। वे ग्रन्थ हैं—

१. माध्यमिक शास्त्र (जापानी > थू क्वानरॉन)

२. शतशास्त्र (ह्यकुरॉन), और

३. द्वादश-निकाय-शास्त्र (जुनिमॉनरॉन)।

इनमें प्रथम और द्वितीय ग्रन्थ के रचयिता सुप्रसिद्ध बौद्ध आचार्य नागार्जुन तथा तृतीय के रचयिता देव नामक दार्शनिक थे।

सनरॉन सम्प्रदाय ६२५ ई० में एकवान द्वारा कोरिया से जापान आया। सनरॉन सम्प्रदाय जापान में अब लुप्त हो गया है। परन्तु उसके आधार ग्रंथ आज भी मान्य ग्रन्थ के रूप में पढ़े जाते हैं। होर्योजी का सुप्रसिद्ध मंदिर जो आजकल होस्सो सम्प्रदाय वालों का हो गया है किसी समय सनरॉन सम्प्रदाय का था।

नागार्जुन द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्त जापान में भी अपने अ-परिवर्तित रूप में मान लिया गया। पदार्थ की सत्ता, अणु की अविभाज्यता, आत्मा का अस्तित्व, तत्वों में विश्वास, संज्ञा की अवस्थिति—ए सभी अमान्य हैं—केवल 'शून्यता' ही सिद्ध है। परन्तु शून्यता भी न तो यथार्थ है और न 'नास्तिमूलकता'।

होस्सो सम्प्रदाय

जापान के प्रचलित सम्प्रदायों में होस्सो (६५३ ई० में दोशो नामक भिक्षु द्वारा संस्थापित) एक पृथक् सम्प्रदाय चला। इसके प्रवर्तक दोशो को चीन में प्रसिद्ध चीनी पर्यटक युवान् च्वाङ् ने दीक्षा दी थी। दोशो के अतिरिक्त जेम्बो ने भी आगे इस मत का प्रचार किया।

होस्सो सम्प्रदाय के अनेक ग्रंथ हैं जिनमें प्रमुख हैं—

केगोन-क्यो (अवतंशक सूत्र)
जे जिम्मि-क्यो (संधिनिर्मोचन सूत्र)
र्‌योग् क्यो (लंकावतार सूत्र)
कोगोन् क्यो (गंधव्यूह)
युगशिजिरॉन (योगाचार भूमि)
दायिजोशोगोनरॉन (महायान सूत्रालङ्कार)
शूर्योरॉन (प्रमाण समुच्चय)
शोदायिजोरॉन (महायान सम्परिग्रह)
जूजिरॉन (दशभूमि)
निजूक्शिकिरॉन (विंशतिका)
वेञ्चू बेनरॉन (मध्यान्तविभाग)
अबिदात्सुमजोशूरॉन (अभिधर्म संगीति)

इस सम्प्रदाय से संबन्धित जापान में ४४ मंदिर और विहार हैं जिनमें अनेक भिक्षु हैं। गृहस्थ भी होस्सो के अनुयायी हैं। इस सम्प्रदाय में बौद्ध धर्म के साथ शिन्तो को भी मान्यता प्राप्त है।

होस्सो साधक मूलतः यह विश्वास करते हैं कि जगत् में केवल 'विचार' की सत्ता है, अन्यथा सब कुछ स्वप्न है। जगत् विचार का आलम्बन भर है। इसी प्रकार तीन लोक भी—तृष्णा लोक (योरु), रूपलोक (शिकि), और अरूपलोक (मु-शिकि) भी विचार से उद्भूत हैं। यदि जगत् का वैचारिक विश्लेषण करें, हम बानवे धर्मों (तत्वों) से उसे आवृत पाएंगे। बौद्ध सिद्धान्त यद्यपि जगत् को नाशवान कहता है, होस्सो साधक यह मानते हैं कि

एक शाश्वत बोधि सत् सदा वर्तमान रहता है। इस प्रकार यह मत आदर्श-वादी मतों के निकट पहुँचता है। याकूशिजी और कोफुकुजी के मठों में इस सम्प्रदाय के साधक हैं।

केगोन सम्प्रदाय

केगोन सम्प्रदाय का आयात भी जापान में कोरिया से ७३६ ई० में चीनी साधक दोसेन द्वारा हुआ। सर्वप्रथम नारा के तोदायिजी मंदिर के पुरोहित र्योवेन ने इसे ग्रहण किया। ८वीं शती में जापान के सम्राट् शूमू ने कोरिया के भिक्षु शुइशो पर इसके प्रचार का भार डाला।

वर्तमान समय में केगोन के वहुत थोड़े अनुयायी जापान में हैं। इस सम्प्रदाय से सम्वन्धित २७ मन्दिर वतलाए जाते हैं और पुरोहितों की संख्या भी पचास के लगभग है।

इस सम्प्रदाय का मूलग्रन्थ 'केगोन्-क्यो' (सं > अवतंशक सूत्र) है। इसके अनुसार विचार और द्रव्य सभी एक ही आधार से समुत्पन्न हैं, एक ऐसी अवस्था जिसमें वुद्ध या साधारण प्राणी सवमें 'वुद्ध-तथता' (वुद्ध-गुण) की व्याप्ति है। वह दशा एक महासमुद्र के समान है जिसमें इंद्रियमूलकता तरंगाघातों की तरह निरन्तर पर्यवसित होती रहती है।

केगोन दर्शन भावमय है। वह एक आशावादी दर्शन है जिससे उसकी साधना भी काव्यमय है। उसके अनुसार संसार के संघर्ष में केवल प्राणी ही संघर्षरत नहीं हैं, तथागत उनके साथ हैं। तोदायिजी का मंदिर केगोन साधना का केन्द्र है।

केगोन भी होस्सो की तरह बौद्ध धर्म के साथ शिन्तो के उपासक हैं। वे प्राय: कलाप्रिय, स्वप्नद्रष्टा और भावना-संप्रज्ञ होते हैं।

तेण्डइ सम्प्रदाय

तेण्डइ सम्प्रदाय का आयात जापान में चीन से ९वीं शती में हुआ। चीन में यह भारत से कव पहुंचा यह शोध का विषय है। तेण्डइ सम्प्रदाय के मूलशास्त्र निम्नलिखित हैं:

होक्के-क्यो (सद्धर्म पुण्डरीक)
कों कोम्यो-क्यो (सुवर्णप्रभास सत्र)
नेहन-ग्यो (निर्वाण सूत्र)
दायिनिचिक्यो (महावैरोचन-अभिसंबोधि-सूत्र)

कोंगो चोक्यो (बज्रशेखरतन्त्रराज-सूत्र)
सोशिजिक्यो (सुसिद्धिकरमहातन्त्रराज)
बोदायिशिराँन (बोधिहृदयशास्त्र)

इस सम्प्रदाय के जापान में प्रवर्तक साइचो अथवा देन्ज्यो-दायिशी थे। सम्प्रदाय का मूलग्रंथ सद्धर्म पुण्डरीक (होक्के-क्यो) ही है जिसके आधार पर तेण्डइ साधक प्रत्येक अणु में बुद्धगुण का आधान मानते हैं। केगोन दार्शनिकों ने केवल जीवधारी सत्ता में ही बुद्धगुण माना था, किन्तु यहां सारा ब्रह्माण्ड ही बुद्धगुणोपेत है।

इस सम्प्रदाय के एक बड़े विचारक ने हर प्रकार के चर-अचर, सदसत्, स्थूल-सूक्ष्म व्यापारों के भीतर बुद्धगुण की सान्तता का गान किया था और उसके अनुयायियों ने उस शिक्षा को मानकर जापान में आशावादिता का एक वातावरण उत्पन्न कर दिया था।

तेण्डइ साधक बड़े उल्लासपूर्ण स्वर में कहते हैं : 'हन्न मो जोबुत्सु सुरु' (फूल भी बुद्ध हो सकते हैं)।

इसी विशेषता के आधार पर आज भी तेण्डइ साधक निचिरेन साधकों के साथ स्वर में स्वर मिलाकर अपने प्रसिद्ध मंत्र 'नम्यो-अमिद-बुत्सु' (अमिताभ बुद्ध को नमस्कार) के साथ निचिरेन मंत्र 'नम्योहो-रेंगे-क्यो' का समवेत गान करते हैं। तेण्डइ मंदिरों की संख्या ६००० के लगभग है और लाखों व्यक्ति इसके अनुयायी हैं। इन मंदिरों में आसाकुसा, मीदेरा और संजुसञ्जेन-दो के मंदिर विशेष प्रसिद्ध हैं।

शिंगोन सम्प्रदाय

शिंगोन सम्प्रदाय (९ वीं शती में स्थापित) जापान का वस्तुतः एक गुह्य (रहस्यमय) सम्प्रदाय है। इसके संस्थापक जापानी साधक कूकै अथवा कोबो-दायिशी थे। इस सम्प्रदाय के विशिष्ट ग्रन्थ हैं—

दायिनिचिक्यो
कोंगोचोक्यो
सोशिजिक्यो
युजिक्यो
दायिबिरुशनबुस्सेत्सुयार्यकुनेञ्जुक्यो
तथा कोबो दायिशी के टीका-ग्रंथ।

वज्रयानी साधन और मुद्राओं पर आधारित शिंगोन सम्प्रदाय का प्रचार पहले काफी था, किन्तु कालान्तर में उसमें ह्रास हुआ। इस सम्प्रदाय की साधना में 'मंदार' (एक प्रकार के यन्त्र) का बहुशः व्यवहार पाया जाता है और पूजा एवं जप के लिए वाह्य उपकरणों का, जिनमें माला मुख्य है, विशेष आश्रय लिया जाता है।

इस संबंध में यहाँ एक विचार आवश्यक प्रतीत होता है। 'जप' के विषय में थेरवादी महायानियों के कुछ प्रतिरोधी जान पड़ते हैं। उसका कारण उनकी वाह्यार्थ-दृष्टि है; अन्यथा अभिधर्म की भाषा में भी इसका सुन्दर समाधान मिलता है। यहाँ एक समीक्षा देते हैं :

बौद्ध धर्म में 'माला' के प्रयोग को लेकर प्रायः बड़ी भ्रान्ति फैली हुई है। यदि यह केवल मंत्रों का यंत्रवत् जप ही है जो धर्म का अन्य धर्मों की तरह एक आनुषंगिक अंग बन गया है तो इसका यथार्थ मूल्य कुछ नहीं हो सकता। परन्तु यथार्थता यह है कि मन को एकाग्र करने का और उसे सतत् शुद्ध रखने का माला बड़ा भारी उपकरण है। महायान के अनुयायी इसे मानते ही हैं, थेरवादी भी इसे चित्त-प्रशम का साधन मानने लगे हैं।[४]

जापान के शिंगोन साधकों का कहना है कि यद्यपि बुद्ध और पुण्डरीक में समान हृदय वर्तमान है, परन्तु हमें संसार के रहस्य को अंतर्दृष्टि से समझने की आवश्यकता है।

शिंगोन प्रतीकों में कुछ मुख्य यहां दिए जाते हैं जिनका उनकी साधना में बराबर व्यवहार होता है।

---

४ 'The value of this in terms of Abhidhamma psychology lies in the wholesome nature of the Cittakkhaṇa, or 'Consciousness-moment' in its uppāda (arising), thiti (static) and bhanga (disappearing) phases. Each of these wholesome cittakkhaṇa contributes to the improvement of the Sankhāra, or aggregate of tendencies, in other words, it directs the subsequent thought-moments into a higher realm and tends to establish the character on that level.'

—Buddhist Meditation, p. 14, Buddhist Publication Society, Candy, Ceylon, 1963.

प्रतीक	व्यंजना
दक्षिण-कर	बुद्ध लोक
वाम-कर	संसार
अंगुष्ठ	आकाश (शून्य)
तर्जनी	वायु
मध्यमिका	अग्नि
अनामिका	जल
कनिष्ठिका	पृथ्वी

महायान धारणी मंत्रों की तरह शिगोन साधकों की भी अनेक धारणियाँ हैं और उनका धर्मचक्र तिब्बती 'मानी' की तरह निरन्तर चलता रहता है। उसे 'तेन-हो-रिन्' कहते हैं।

जोडो सम्प्रदाय

जोडो सम्प्रदाय की स्थापना जापान में ११७५ ई० में हुई। उसके संस्थापक गेन्कू—जो होनेन के नाम से विख्यात हैं-थे। 'जोडो' का अभिप्राय पवित्र भूमि है। इस सम्प्रदाय की साधना अमिताभ बुद्ध की साधना है। इसका मूल ग्रंथ 'सुखावती व्यूह' है। प्राचीन काल में जोडो के अधिक अनुयायी थे।

जोडो सम्प्रदाय के अनुयायी यह मानते हैं कि संसार से जाने पर वे सुखावती (पवित्र भूमि) में प्रवेश पा सकें इसके लिए इस जीवन में उन्हें पवित्र और दयामय जीवन विताना चाहिए। अमिताभ की कृपा ही उनका सर्वस्व है। यों तो जोडो मंदिर जापान में अनेक हैं, किन्तु वे कुरोदानी के मंदिर पर विशेष श्रद्धा रखते हैं, जो संत होनेन की साधना भूमि रही है।

जोडो मंत्र है : 'नम्यो-अमिद-बुत्सु'।

शिशु सम्प्रदाय

जोडो सम्प्रदाय की तरह शिशु सम्प्रदाय भी सुखावतीव्यूहानुसारी है। इसके संस्थापक शोनिन शिनरॉन (११७३ ई०–१२६२ ई०) थे। जापान में इस सम्प्रदाय की बड़ी प्रतिष्ठा है। इसके हजारों मंदिर हैं और अनुयायी भी लाखों हैं। इसकी लोकप्रियता का कारण इसकी अमिताभ में भक्ति भावना और निर्वाण की सहज साधना ही कही जा सकती है। इसके सिद्धान्तों के अनुसार तथागत ने इसीलिए पृथ्वी पर जन्म ग्रहण किया क्योंकि उन्हें मानवता को कष्टों से छुटकारा दिलाना था। 'नम्यो-अमिद-बुत्सु' मंत्र के जप

में वह शक्ति है जो मनुष्य को उसके सभी अकुशल कर्मों से शीघ्र उन्मुक्त कर देती है।

शिशु साधना के प्रसिद्ध मंदिर क्योतो में हैं। वहाँ उनके विख्यात निशि-होंगवानजी और हिगाशी-होंगवानजी के पवित्र तीर्थ-स्थल हैं। जोडो मंदिरों में यात्रियों की बराबर भीड़ रहती है। इसका कारण यह है कि जोडो जीवन को एक लम्बी यात्रा मानते हैं।

शिशु साधकों का यह विश्वास है कि जब तक मनुष्य अपनी तृष्णा का क्षय नहीं कर देता उसे विश्व में अनन्त रूपों में व्याप्त चराचर सत्य का आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता।

ज़ेन सम्प्रदाय (ध्यान सम्प्रदाय)

ज़ेन अथवा ध्यान सम्प्रदाय जापान का विशिष्टतम सम्प्रदाय है जिसके प्रवर्तक भारतीय साधक बोधिधर्म माने जाते हैं। जापान की संस्कृति पर इस सम्प्रदाय की गहरी छाप है। इसके प्रति आकर्षण का कारण अन्य साधनाओं की अपेक्षा इसकी सरलतम साधना है। दार्शनिक शास्त्रार्थ और विज्ञानवाद की विश्लेषण-पद्धतियों के स्थान में यह काव्यमय अंतस्साधना तथा एक रहस्यमय वातावरण को जन्म देता है जो कभी छोटे दार्शनिक परिसंवादों जिन्हें 'प्रश्नमाला' (मॉंडो) कहना उचित होगा, और कभी मोहक लघु गीतों अथवा सुरुचिपूर्ण चित्रों में व्यञ्जित होता है।

ज़ेन को दर्शन कह सकते हैं और उसकी अपनी परिभाषा के अनुसार उसे दर्शन नहीं भी कह सकते हैं। वह वस्तुतः प्रेममय योग की एक प्रक्रिया है जो संसार के बीच प्रकृति के सुरम्य वातावरण में किसी पर्वत की उपत्यका में, नदी या कछार के निभृत एकान्त में ले जाकर हमें आत्म-बोध का अनुभव करा देती है।

जापान में ज़ेन सम्प्रदाय के तीन वर्ग हैं : क. रिंजइ, ख. सोतो और ग. ओवाकू। उनकी साधना में अन्तर नहीं है, केवल इतिहास भिन्नता की ओर इंगित करता है। रिंजइ की साधना चीन में होती थी जिनसे जापानियों ने बारहवीं शती में इस पद्धति को अपनाई। इसका श्रेय एइसेयी को है। दूसरी शाखा सोतो के प्रवर्तक दोगेन (१२००–१२५३ ई०) थे। दोगेन जापानी थे। तीसरी शाखा ओवाकू की स्थापना १६५३ ई० के आसपास ईंजेन नामक चीनी भिक्षु द्वारा जापान में हुई।

चीनी अनुश्रुतियों के अनुसार ध्यान साधना का मूलोद्भव राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर स्वयं भगवान बुद्ध के संघोपदेश के एक अवसर पर हुआ,

जबकि देवाधिपति ब्रह्मराज ने उन्हें एक स्वर्ण-उत्पल प्रदान किया और धर्म की देशना के लिए प्रार्थना की। भगवान ने वह स्वर्णोत्पल संघ को दिखलाया। संघ मौन रहा। इस बीच महाकाश्यप ने उत्पल को देखकर स्मित हास किया जैसे उनकी समझ में सब कुछ आ गया। यह उन्हें धर्म-चक्षु प्राप्त हुआ। वही चक्षु आनन्द को भी मिला। इस धर्म-रहस्य को धारण करने वाले बोधिधर्म परम्परा से अट्ठाइसवें माने जाते हैं।

साधना की यह संवाहन (Transmission) प्रणाली आज तक चली आ रही है और ज़ेन साधक एक विचित्र ढंग से प्रज्ञा की गुत्थियाँ स्वानुभूति के द्वारा सुलझाने की प्रेरणा देते रहते हैं। ज़ेन प्रसंग बड़े रोचक हैं और उनके 'माँडो' का तो कहना ही क्या।

'प्रज्ञापारमिता' को जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार करनेवाले ज़ेन साधक प्रत्येक बुद्धानुसारी हैं। वे विज्ञान से प्रश्नों का समाधान नहीं ढूँढ़ते। वे शून्यतावादी भी नहीं हैं। इसीलिये वे प्रकृति के विशेष निकट हैं। उनका प्रकृतिप्रेम उनके काव्यों (हाइकायी एवं वाका), नाटकों (नो-ह), चित्रों (समिये) आदि में अपने मधुरतम रूप में अभिव्यंजित पाया जाता है। ज़ेन काव्य को समझे बिना उनकी साधना को समझना असंभव है। 'हाइकू' का एक उदाहरण यहाँ देते हैं—

'योशिनो में जब चेरी के फूलने का समय आता है, उल्लास से भरा हुआ मेरा हृदय पर्वत के शिखर पर इन बसन्तकालीन प्रभातों में चमकने वाले श्वेत बादलों की ओर अनायास खिच उठता है।'

(सकावादा मासातोशी, १५८०-१६४३ ई०)[५]

काव्य का यह माधुर्य और भी मिठास उत्पन्न कर देता है यदि कहीं झरने के निर्बाध रव के बीच बाँसों के झुरमुट में किसी ज़ेन की झोपड़ी में 'छा-नो-यू' (चाय का विशेष निमंत्रण) मिल गया हो। उस समय काल को भी प्रज्ञा के आह्लाद के आगे मौन रह जाना पड़ेगा।

इस प्रकार माँडो द्वारा ज़ेन के समझाये जाने का एक स्वरूप यहाँ देते हैं।

ज़ेन गुरुओं ने साधकों को इसी प्रकार की शिक्षायें दी हैं—एक साधक ने गुरु से बौद्ध धर्म का मूल अभिप्राय जानना चाहा। गुरु ने उत्तर दिया—

५ दंसेत्ज तेतारो सुज़ुकी के जापानी हाइकू के अंग्रेजी भाषान्तर से रूपान्तरित।

पर्वत से एक जल धारा निकलकर वह रही है। वह अवाध गति से वहती जा रही है। इसी तरह सुवर्ण तारों से खचित जैसे पहाड़ी फूल खिले हुए हैं; यहाँ मञ्जुश्री तुम्हारे सामने विद्यमान हैं।

वन के प्रान्तर में चिड़ियाँ चहचहा रही हैं, जानते हो वे क्या कहती हैं, वे अवलोकितेश्वर की वाणी में तुम्हें संदेश दे रही हैं। साधक, तुम क्या सोच रहे हो।

मॉंडो कभी कभी हमें उपनिषत्कालीन ऋषियों, रहस्यमार्गी सिद्धों अथवा कवीर की वानियों का भी स्मरण दिला देते हैं। इसका कारण अंतस्साधना का मार्ग है। जब सिद्धों में प्राचीन सरह (=सरोजवज्र) कहते हैं—

जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहि पवेस।
तहि वट चित्त विसाम. करु, सरहे कहिय उवेस॥

उस समय हमें ज़ेन साधक की संवाहात्मक साधना ध्यान में आ जाती है। ज़ेन साधक सही कहते हैं कि शब्दों के जाल में हम इतने उलझे रहते हैं कि प्रायः यह भूल जाते हैं कि शब्द यथार्थता का प्रतिनिधित्व भर करने वाले हैं, वे यथार्थ नहीं हैं। जव हम इसका आभास पा जाते हैं उस समय हम अनुभव करते हैं कि हम उन्मुक्त जीव हैं जिनका कोई प्रयोजन नहीं है (वू-शिह-चिह जेन)।

.संवाहात्मक साधना की एक अक्षय राशि हमें जापानी ग्रंथ 'केइतोकू देन्तो रोकू' (जिसका अंग्रेजी भाषा में 'Records of the Transmission of the Lamp' शीर्षक से अनुवाद हुआ है) में मिलती है। प्रकृति के अत्यन्त निकट होने के कारण कुछ लोग ज़ेन साधना में प्रकृतिवाद (Naturalism) का आरोप कर सकते हैं। परंतु किसी वैज्ञानिक चक्र के बिना ही स्वानुभूति द्वारा ज़ेन विराट् सृष्टि के अनन्त रहस्यों का क्षण भर में उद्घाटन करने को प्रस्तुत रहता है। एक जापानी ज़ेन का कथन है कि— 'पतझर और फूलों का आगम दोनों ही भगवान बुद्ध के सद्धर्म की पवित्रता के द्योतक हैं।' प्रज्ञावान ही श्रद्धामय अनुभूति से 'महाप्रज्ञा' का दर्शन पाता है। 'प्रज्ञापारमिता' को जापानी भाषा में 'हन्या-हरमित्सु' कहते हैं।

महाप्रज्ञा को एक मॉंडो में समझाने का यह प्रयास वड़ा श्लाघ्य है—

शेइशो (वॉंज़) का कथन है कि—'हिम-पात का समय है, प्रकृति कुहरे से ढक गई है।'

इस पर साधक चुप रहता है।

गुरु ने प्रश्न किया—'समझते हो?'

साधक निरुत्तर रहता है।

शेइशो एक हाइकू द्वारा सब स्पष्ट कर देते हैं :

'यह न तो बतलाई जा सकती है और न ग्रहण की जा सकती है, यदि साधक स्वयं समझने में असमर्थ है।

वायु शीतमय है, हिमपात होता जा रहा है।'

इसी तरह प्रश्नों की शृंखला बन जाती है।

साधक प्रश्न करता है—'आत्मा क्या है?'

गुरु का सीधा उत्तर होता है—'आत्मा से क्या करोगे?'

ज़ेन संवाहन का एक रोचक विररण यहाँ प्रस्तुत है। हन्या पगोडा के धर्मगुरु केइज़ू धर्मसभा में उपस्थित हुए। तीन बार धर्म-दुंदुभि बजी। धर्मगुरु ने सभा को संबोधित कह कहा—

'आश्चर्य है—दुंदुभि तीन बार बजी—

भिक्षुसंघ यहाँ आ उपस्थित हुआ।

भिक्षुसंघ जानता है कि समय की सूचना कैसे प्राप्त होती है। मुझे यह सत्र दुहराने की आवश्यकता नहीं है।'

इतना कहकर धर्मगुरु सभा मंडप से प्रस्थान कर देते हैं। (केइतोकु देन्तो रोकु)

ज़ेन संवाहन का मुझे स्वयं अनुभव उस समय हुआ जब सारनाथ के खंडहरों में मूलगंध कुटी के पास बैठकर इस विषय के लिखते समय मेरे पास से उठकर मेरी धर्मपत्नी और सुपुत्र के घर लौटने पर अकस्मात् जापान के एक शिष्टमंडल के साथ एक बहुत बड़े ज़ेन साधक बुत्सु कोकुजी के मन्दिर के बाँज मेरे पास आ उपस्थित हुए। जापानी साधक के भी आश्चर्य की सीमा नही थी कि उन्हें मैं इस भावमयी मुद्रा में बैठा मिलूँगा। ज़ेन के संबंध में अधिक बातें न होकर ज़ेन साधना का प्रकृत रहस्य ही खुलने लगा। यह संयोग स्वतः आल्हादमय था। बाँज़ ने मुझसे शीघ्र एक शब्द लिखने केलिए कहा। मैंने एक वाक्य लिख दिया—'Flowers are lovely' (फूल सुंदर हैं)। बाँज़ के लिए इतना बहुत था। एक अन्य मित्र के साथ उन्होंने मेरे फ़ोटो खींचे और मंगल की प्रार्थना की। जो बात मैं विशेष रूप से यहाँ लिखना चाहता हूँ वह मेरी भेंट का विषय अथवा आत्म प्रशंसा

नहीं है। आकर्षण की बात तो यह रही कि कुछ फ़ोटो लेने के उपरान्त जब वे अंतिम फ़ोटो खींचने चले—सहसा कैमरा रिक्त हो चुका था। इस पर वे आनन्द से चिल्ला पड़े—'Excellent' (बहुत अच्छा)। यह शब्द 'ज़ेन' का अनुभूति-परक शब्द है।

ज़ेन सान्त और अनन्त के बीच एक मधुर साम्य स्थापित करता है। वह निरपेक्ष अथवा अमूर्त्त सत्य (Absolute Truth) में आस्था नहीं रखता। वह एक गत्यात्मक सौन्दर्यानुभूति है जो विराट् में व्याप्त है। मुझे 'आत्मानं विद्धि' का ध्यान आ गया।

ज़ेन साधना जापान में कामाकुरा युग में प्रचलित हुई थी और अपनी प्रकृत् विशेषताओं के कारण हर वर्ग के लोगों में उसी समय से लोकप्रिय हो गई। उसके समर्थक समुराई योद्धा भी रहे हैं और पहाड़ी गुफ़ाओं में निवास करने वाले सिद्ध भी।

प्रज्ञापारमिता सभी का लक्ष्य है।[६]

निचिरेन सम्प्रदाय

जापान में ज़ेन की तरह निचिरेन सम्प्रदाय भी काफी मान्य है। उसके प्रवर्तक निचिरेन (१२२२ ई०--१२८२ ई०) एक बड़े सिद्ध पुरुष थे। निचिरेन सम्प्रदाय का धर्मग्रंथ केवल एक 'सद्धर्म पुण्डरीक' है। इसके मन्दिर जापान में बहुत बड़ी संख्या में हैं; विशेषतः इकेगामी और मिनोबू मंदिर। निचिरेन देशप्रेम को भी बहुत महत्व देता है। इसलिए इसका काफी प्रचार है। इसके तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं—

१. इस मंत्र विशेष का जप 'नम्यो होरेंगे क्यो' (सद्धर्म पुडरीकाय नमः),

२. भगवान (तथागत) की प्रतीकात्मक उपासना,

३. बौद्धधर्म का सार्वभौकिक प्रसाद।

ए तीनों सिद्धान्त क्रमशः 'दाइमोकु' (मंत्र), 'होन्ज़ो' (उपासना-विषय) एवं 'कावोदान' (प्रसार-भूमि) हैं।

---

६ ज़ेन साधना के विषय में 'केइतोकु देन्तो रोकु' के अतिरिक्त भी अनेक ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना हुई है, जैसे 'जेन्सो-मांडो' (ज़ेन बांज़ों के प्रश्न-रहस्य)' 'जेन्शू जितेन' (ज़ेन सम्प्रदाय कोश), एवं देसेत्सु तेतारो सुजुकी के 'ज़ेन बुद्धिज़्म एंड इट्स इन्फ्लुएन्स ऑन जापानी कल्चर' (दि ईस्टर्न बुद्धिस्ट सोसाइटी, ओतानी बुद्धिस्ट कालेज, क्योटो (१९३८) एवं 'स्टडीज़ इन ज़ेन' राइडर, लंदन १९५५ जैसे ग्रंथ।

मंत्र में निचिरेन साधकों का अभिन्न विश्वास है। उनका समवेत स्वर सागर की लहरों के समान जीवन की आस्था का प्रतीक है। मंत्र से वे निर्वाण (नेहान) की सिद्धि मानते हैं। यह मार्ग ज्ञानी और भक्तिमार्गी सभी के लिए खुला हुआ है। इतनी विशेषता और है कि राष्ट्रीय उद्‌बोधन (रिसोहो-अंकोकु-रॉन) भी एक आवश्यक तत्व के रूप में जुड़ गया है जो वर्तमान जापान की प्रगति के लिए आधार बन गया है। भारत में प्रसिद्ध निचिरेन भिक्षु निचिदात्सु फ्यूजी, जो जापान बौद्ध संघ के अध्यक्ष हैं, की प्रेरणा से पिछले वर्ष राजगृह में विश्वशान्ति पगोडा का निर्माण हुआ था। फ्यूजी गुरुजी के अनुसार राजगृह वह स्थान है जहां तथागत ने 'सद्धर्म-पुण्डरीक' का प्रथम उपदेश किया था जिसके आधार पर जापान में निचिरेन सम्प्रदाय की स्थापना हुई है। विश्वमंगल निचिरेन की एक निर्दोष कल्पना है। निचिरेन साधक अन्य शुभ साधकों की तरह उसी की सिद्धि चाहता है।

जापान की साधनाओं पर बौद्धधर्म के अतिरिक्त कनफूची और शिन्तो प्रभाव भी काफी पड़े हैं। परन्तु जब हम वैदिक और तन्त्र प्रक्रियाओं से भी उन्हें दूर नहीं पाते तो इसका कारण जापानियों की ग्राह्य-वुद्धि ही मानी जा सकती है।

इस संबन्ध में मुझे पिछले वर्ष सारनाथ आये दो जापानी साधकों का स्मरण हैं, जिनमें एक ओसाका विश्वविद्यालय के संस्कृत के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर टी० सहोद थे। उनसे यह जान कर कि साधना की दिशा में जापानी 'अथर्ववेद' और 'उपनिषदों' की भी खोज करनें में लगे हुए हैं मुझे उस समय तो आश्चर्य हुआ, परन्तु अब आश्चर्य नहीं हो सकता जब मैंने जापानी साधनाओं का कुछ संकलन कर लिया है।[७]

---

७ पाश्चात्य अन्वेषक स्तीनवेर ओवर्लिन ने इस सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं, जो मुझे कुछ विद्रोहात्मक प्रतीत होते हैं, परन्तु जापान गत्यात्मक (डाइनमिक) है यह आवश्यक सत्य है—

·If would be difficult to determine in what measure the sects of the Pure Land-purely Japanesc crcations, but whose canonical texts are ancient sutras bearing expressly those simplifica ions of doctrine and practice which they advocate have themselves and by the effect of a natural evolution, become adapted to the exigencics of contemporary life, and in what measure their religious leaders, alarmed by Christian

जापान की साधनाओं में हमें एक प्रकार का भाव बराबर दिखलाई देता है—वह है जीवन को प्रभंजन की दीपशिखा मानने वाले[८] साधकों का 'सतत् स्वप्न'। यह विचार एक जापानी कविता में जो 'उता' शैली की एक उत्कृष्ट रचना है, इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

योरु वाकारी
मिरु मोनो नारी तो
ओ मोऊ—नाथो !
हिरु साये युमे नो
उकियो नारी-केरी।

'स्वप्नद्रष्टा केवल रात में ही स्वप्न नहीं देखता; दुःख से पूर्ण संसार का स्वप्न हम दिन में देखते रहते हैं।'

परन्तु साधक की अंतःदृष्टि ने स्वप्न की स्थिति को अपनी मैत्री भावना से मानवता के पर्युत्थान में बदल दिया है। जापानी मंदिरों में 'नेम्बुत्सु' (प्रार्थना) के अवसर पर 'मोकुग्यो' (धर्म-भेरी) के स्वर के बीच उनकी भावमयी त्रिशरण-वन्दना हृदय के सभी संशय छिन्न कर देती है मैं ऐसी कल्पना कर सकता हूं। वह स्वर है—

वारे बुत्सुनी किएइशी ताते मात्सेरो
वारे होनी किएइशी ताते मात्सेरो
वारे सोनी किएइशी ताते मात्सेरो

आधुनिक संशयवाद के युग में साधना के महत्व को स्वीकार कर पाश्चात्य विचारक भी आजकल उसकी प्रक्रियाओं और संभावनाओं की खोज में बड़े व्यापक रूप में लग गये हैं। नागार्जुन की 'निर्वाण' विषयक शून्यवादी व्याख्या के आधार पर आधुनिक जर्मन विचारक पाल ढालके (Dr. Paul Dahlke) ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था कि 'निर्वाण' की कल्पना जगत् से भिन्न किसी अज्ञात लोक की कल्पना नहीं है।[९] जीवन

---

rivalry, have very legitimately been able to voluntarily accentuate their modernistic tendencies.'

(दि बुद्धिस्ट सेक्ट्स ऑव जापान, इण्ट्रोडक्शन, पृ० २१)

८ एक जापानी कहावत—'इनोची वा फुजेन नो तोमो शीबी।'

९ 'The Samsāra, this ever-changing world of ever new births, of ever new act of becoming 'world' again, is precisely so constituted that Nibbāna, Deliverance, Salvation,

की विविधता में अनन्त सौंदर्य का हम दर्शन कैसे पा सकते हैं इस सम्बन्ध में एक अन्य विचारक रूथ वैल्श (Ruth Walshe) कहते हैं कि बाहरी आवरण, जो हमारे सच्चे रूप को ढके हुए है, के हटते ही हम उस विशाल सौंदर्य का दर्शन कर सकते हैं जो अखिल जगत् में परिव्याप्त है। रूथ गेटे के 'फ़ास्ट' से उद्धरण देते हुए इस तत्व को विशद रूप से संचालित देखना चाहते हैं। और यही धारणा अन्य बहुत से आधुनिक विचारकों की है। गेटे का अभिप्राय मूल जर्मन भाषा में इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है :

'Greift nur hinein ins volle Menschenleben ! Ein jeder leb'ts-nich vielen ist's bekannt Und wo Ihr' pact, da ist's interessant !'

इससे इतना तो सिद्ध है ही कि साधना—मैत्री भावना जिसका आनुषंगिक अङ्ग है—जीवन में अवधारित करने की बड़ी व्यापक आवश्यकता है।

मानवता ने प्राचीन युग में साम्राज्यों के पतन के रूप में जो कुछ देखा और मध्य युग के अवशेषों को लेकर जिस प्रकार नए राज-तन्त्रों का सृजन कर फिर वर्तमान शासनों की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों को जिस निरीहता से देख रही है उसके निरोध के लिए साधना उपयोगी है। उसमें क्रान्तिमूलक सभी अभिप्रेरणायें और शक्तियाँ सन्निहित हैं जिनके लिए मनुष्य को नई भाषा को जन्म देना होगा अथवा भाषा के माध्यम के बिना ही सब कुछ बदल जायगा।

—चन्द्रचूड़मणि

---

does not lie in any Beyond that can be reached only by a transcendental leap out of the world; but Samsāra bears Nibbāna wihin itself as its final fulfilment; a fulfilment that takes place in a process of radical detachment experienced in a progressive inner awareness (Verbewusstung)'.

—From 'Die Brockensammlung', 1929).

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय मुद्रणालय, वाराणसी—मु० सं० ६/७२